अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

फ़रवरी २०२१

श्रीमाँ की उपस्थिति

अग्निशिखा फ़रवरी २०२१ वर्ष ५१, अंक ७, पूर्णांक ६०६

विषय-सूची

श्रीमाँ की उपस्थिति

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश		३
सतत जीवन्त उपस्थिति		५
चैत्य द्वार		१४
श्रीमाँ की उपस्थिति के प्रति खुलना		२९
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		४२
भौतिक सत्ता का रूपान्तर		४५
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४८
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : भोजन तथा वाणी	नवजातजी	५२
सुमिरन कर ले मेरे मना	वन्दना	५४

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

इस योग का सारा सिद्धान्त ही है भागवत प्रभाव की ओर अपने-आपको उद्घाटित करना। यह प्रभाव तुम्हारे सिर के ऊपर ही विद्यमान है; यदि तुम एक बार इसके विषय में सचेतन हो सको तो फिर तुम्हें इसका आवाहन कर अपने अन्दर इसे उतारना होगा। वह मन के अन्दर और शरीर के अन्दर अवतरित होता है शान्ति के रूप में, ज्योति के रूप में, कार्य करने वाली एक शक्ति के रूप में, भगवान् की साकार या निराकार उपस्थिति के रूप में, आनन्द के रूप में। जब तक यह चेतना नहीं प्राप्त होती तब तक साधक को श्रद्धा-विश्वास बनाये रखना और आत्मोद्घाटन के लिए अभीप्सा करनी होगी। अभीप्सा, आवाहन और प्रार्थना एक ही चीज़ के विभिन्न रूप हैं और सभी फलदायक हैं; इनमें से जो भी रूप तुम्हारे पास आये या तुम्हारे लिए सबसे अधिक आसान हो उसी को तुम अपना सकते हो। दूसरा मार्ग है एकाग्रता का, तुम अपनी चेतना को हृदय में एकाग्र कर श्रीमाँ का ध्यान करो और वहाँ उनका आवाहन करो (कोई-कोई सिर में या सिर के ऊपर करते हैं)। इनमें से किसी एक मार्ग का अथवा भिन्न-भिन्न समयों पर दोनों मार्गों का अनुसरण किया जा सकता है—जिस समय जो मार्ग स्वभावतः तुम्हारे सामने आ जाये अथवा जिसकी ओर तुम्हारी प्रवृत्ति हो जाये। पर, विशेषकर आरम्भ में, सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि ध्यान के समय उन सभी विचारों और वृत्तियों का त्याग किया जाये जो साधना के लिए विजातीय हों। अचञ्चल मन में ही अनुभूति के आने के लिए क्रमशः तैयारी होती जायेगी। परन्तु सब कुछ यदि एक साथ न हो तो तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये; मन के अन्दर पूर्ण अचञ्चलता स्थापित करने में समय लगता है; जब तक चेतना तैयार न हो जाये तब तक तुम्हें अपने प्रयास में लगे रहना चाहिये।

श्रीअरविन्द

हमेशा ऐसे जियो मानों तुम 'परम प्रभु' तथा 'भगवती माँ' की आँखों के तले हो। ऐसा कोई कार्य न करो, ऐसी कोई बात न सोचो और ऐसी किसी चीज़ को अपनी भावना में न उतारो जो 'भागवत उपस्थिति' के योग्य न हो।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १७२

सतत जीवन्त उपस्थिति

वे हमेशा उपस्थित रहती हैं

आपने कहा है, "हमेशा इस प्रकार व्यवहार करो मानों श्रीमाँ तुम्हारी ओर देख रही हों।[१] क्योंकि वास्तव में वे हमेशा उपस्थित रहती हैं।" क्या इसका यह अर्थ है कि श्रीमाँ हमारे सभी मामूली विचारों को भी सदा ही जानती हैं, या फिर जब वे एकाग्र होती हैं केवल तभी जानती हैं?

यह कहा गया है कि श्रीमाँ हमेशा उपस्थित रहती हैं और तुम्हारी ओर देख रही हैं। इसका मतलब यह नहीं कि अपने भौतिक मन में वे हमेशा तुम्हारी ही बात सोचती रहती हैं और तुम्हारे विचारों को देखती रहती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे सर्वत्र हैं और अपने विश्वव्यापी ज्ञान के द्वारा सर्वत्र कार्य करती हैं।

किस अर्थ में श्रीमाँ "सर्वत्र" हैं? क्या इसलिए कि वे विश्व में अवतरित हुई हैं और इसके पीछे काम करने वाली सभी शक्तियों के बारे में उन्हें पूर्ण ज्ञान है? मेरे ख़याल से विश्व या "सर्वत्र" में भौतिक स्तर भी आ जाता है। अगर ऐसा है तो क्या भौतिक स्तर पर होने वाली सभी घटनाओं को वे जानती हैं?

इस बात तक को कि आज लॉयड जॉर्ज ने क्या जलपान किया अथवा रूज़वेल्ट ने नौकरों के विषय में अपनी धर्मपत्नी से क्या कहा? भला क्यों माँ को भौतिक स्तर पर होने वाली सभी घटनाओं को मनुष्य के ढंग से "जानना" ही चाहिये? शरीर धारण करने पर उनका कार्य होता है वैश्व शक्तियों की क्रियाओं को जानना और अपने कार्य के लिए उनका उपयोग करना; बाक़ी चीज़ों के सम्बन्ध में, जिन चीज़ों को जानने की उन्हें ज़रूरत होती है उन्हें वे जानती हैं—कभी तो अपनी आन्तरिक सत्ता के द्वारा और कभी अपने भौतिक मन के द्वारा। अपनी विश्वव्यापी आत्मा के अन्दर उन्हें

[१] श्रीमाँ का यह सन्देश सबसे पहले आश्रम के भोजनालय में २८ मार्च १९२८ को दीवार पर लटकाया गया था—सं.

समस्त ज्ञान प्राप्त है, लेकिन वे केवल उसी को सम्मुख लाती हैं जिसे सम्मुख लाने की ज़रूरत होती है, जिससे कि कार्य किया जा सके।

*

माँ हमेशा तुम्हारे साथ होती हैं। प्राण की अपनी कामनाएँ होती हैं इसलिए वह श्रीमाँ की उपस्थिति में विश्वास नहीं करता। उसके सन्देहों और उसकी कामनाओं को हटाने के लिए तुम्हें माँ की 'शक्ति' का आवाहन करना चाहिये।

*

माँ हमेशा तुम्हारे साथ होती हैं। उनमें अपनी श्रद्धा बनाये रखो, अन्दर शान्त रहो और जो कुछ करना है उसे शान्त भाव से करते चलो। तुम उनकी सतत 'उपस्थिति' के बारे में अधिकाधिक सचेतन होते जाओगे, अपनी क्रिया के पीछे उनकी क्रिया का अनुभव करोगे, तब तुम्हारी क्रिया का भार तुम पर भारी न पड़ेगा।

आपने लिखा है : "हमेशा इस तरह व्यवहार करो मानों श्रीमाँ तुम्हारी ओर देख रही हों; क्योंकि वास्तव में वे हमेशा उपस्थित रहती हैं।" दूसरी ओर आपने मुझे हाल ही में लिखा था कि उनका भौतिक रूप में सर्वत्र उपस्थित रहना सम्भव नहीं है। परन्तु मैंने जब इस विषय में माँ से पूछा तो उन्होंने कहा कि वे कई स्थानों पर व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रह सकती हैं। भला इन विरोधी वक्तव्यों में सामञ्जस्य कैसे बैठाये जाये?

अगर 'भौतिक रूप से' का मतलब तुम 'शरीर से'—उनके दृश्य ठोस जड़-भौतिक शरीर से—समझते हो तो यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता। जब तुमने माँ से वह प्रश्न पूछा था तब उन्होंने तुम्हारा यह मतलब नहीं समझा था—उन्होंने कहा कि वे सर्वत्र उपस्थित रह सकती हैं, और निश्चय ही उनका मतलब अपनी चेतना में उपस्थित रहने से था। शरीर नहीं, चेतना ही हमारे अन्दर 'पुरुष', 'व्यक्ति' है, शरीर तो केवल चेतना के कार्य के लिए एक आधार और यन्त्र है। अपनी चेतना में माँ व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रह सकती हैं। वैश्व उपस्थिति, निस्सन्देह, हमेशा रहती है और

विश्वगत तथा व्यक्तिगत एक ही सत्ता के दो स्वरूप हैं।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १६९-७१

श्रीमाँ की सतत उपस्थिति

श्रीमाँ की सतत उपस्थिति अभ्यास के द्वारा आती है; साधना में सफलता पाने के लिए 'भागवत कृपा' अत्यन्त आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज़ है जो 'कृपा' के अवतरण के लिए तैयारी करती है।

तुम्हें अन्दर की ओर जाना सीखना होगा, केवल बाहरी चीज़ों में ही रहना बन्द करना होगा, मन को स्थिर करना होगा और अपने अन्दर होने वाली श्रीमाँ की क्रिया के विषय में सचेतन होने की अभीप्सा करनी होगी।

श्रीमाँ की उपस्थिति का अनुभव करना

यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि सबसे पहले मनुष्य को 'उपस्थिति' का अनुभव प्राप्त करना चाहिये और फिर उसके बाद ही वह यह अनुभव कर सकता है कि वह माँ का है। बल्कि अधिकतर यह होता है कि इस (उनका होने के) अनुभव के बढ़ने से ही वह 'उपस्थिति' आती है। क्योंकि यह अनुभव आता है चैत्य चेतना से और उस चैत्य चेतना के बढ़ जाने से ही अन्त में सतत 'उपस्थिति' का बना रहना सम्भव होता है। यह अनुभव चैत्य पुरुष से आता है और आन्तर सत्ता का जहाँ तक सम्बन्ध है यह सत्य है—इसका अभी तक सम्पूर्ण सत्ता में सिद्ध न हो पाना इसे 'कल्पना' नहीं बना देता—बल्कि इसके विपरीत, जितना ही अधिक यह बढ़ता है उतनी ही अधिक समस्त सत्ता के इस सत्य को चरितार्थ करने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। आन्तर भाव बाहरी चेतना के ऊपर अपना अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है और उसे इस तरह फिर से गढ़ता है कि वह यहाँ भी एक सत्य बन जाये। यही है यौगिक रूपान्तर के अन्दर कर्म का अटल सिद्धान्त—जो कुछ सत्य है वह बाहर आ जाता है और वह मन, हृदय तथा संकल्प-शक्ति पर अपना अधिकार जमा लेता है और उनके द्वारा बाह्य अंगों के अज्ञान के ऊपर विजयी होता तथा वहाँ भी आन्तर सत्य को प्रकट करता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १७२, १७४

उनकी उपस्थिति के प्रति उद्‌घाटित होना

स्वयं को अचञ्चल और उद्‌घाटित रखो—पूरा-पूरा विश्वास रखो और तुम अपने अन्दर श्रीमाँ की उपस्थिति का अनुभव करोगे।

*

सतत स्मरण के द्वारा ही सत्ता पूर्ण उद्‌घाटन के लिए तैयार होती है। हृदय के उद्‌घाटन से श्रीमाँ की उपस्थिति का अनुभव होना शुरू होता है और ऊपर की उनकी 'शक्ति' के प्रति उद्‌घाटित होने पर उच्चतर चेतना शरीर में उतर आती है और व्यक्ति की समस्त प्रकृति को बदलने के लिए वहाँ कार्य करती है।

*

श्रीमाँ कहती हैं, "अपने-आपको मेरे प्रति उद्‌घाटित रखो, मैं हमेशा तुम्हारे साथ और तुम्हारे चारों ओर हूँ।" मैं किस तरह उनकी उपस्थिति को हमेशा अनुभव कर सकता हूँ? और यह भी कि "सचेतन" होने का अर्थ क्या है और व्यक्ति सचेतन कैसे बन सकता है?

भगवती माँ सब जगह हैं और सारे समय वे तुम्हारे साथ होती हैं। अगर व्यक्ति उद्‌घाटित हो जाये, सचेतन बन जाये तो वह उनकी उपस्थिति को अनुभव कर सकता है। क्योंकि व्यक्ति की प्रकृति अज्ञानी होती है, अपने में और अपनी कामनाओं में ही रमी रहती है इसलिए वह उस उपस्थिति को अनुभव नहीं कर सकता। अगर वह अपना ध्यान अपने ऊपर से, अपनी कामनाओं से हटा ले और अन्दर और बाहर, दोनों तरह से भगवान् में जिये, तब वह भागवत 'उपस्थिति' का अनुभव करना आरम्भ करता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १६७

निराकार और साकार

यह एकदम आवश्यक है कि श्रीमाँ को उनके साकार रूप में सीमित न कर दिया जाये बल्कि उन्हें उनके निराकार रूप में भी उपलब्ध किया जाये।

*

क्या 'श्रीमाँ की उपस्थिति' और 'भागवत चेतना' में कोई भेद है?

व्यक्ति 'भागवत चेतना' को निर्वैयक्तिक रूप में बस एक नयी चेतना के रूप में ही अनुभव कर सकता है। माँ की उपस्थिति इससे अधिक कुछ है—व्यक्ति अनुभव करता है कि वे उसके अन्दर या उसके ऊपर हैं या वे उसे घेरे हुए हैं या फिर वह इन तीनों चीज़ों का एक साथ अनुभव करता है।

*

माँ की उपस्थिति और उनकी समीपता का अनुभव इस बात पर निर्भर नहीं करता कि तुम उन्हें पत्र लिखते हो या नहीं लिखते। कई जो प्रायः उनको चिट्ठी लिखा करते हैं, उनकी निकटता का अनुभव नहीं करते, और कुछ जो उनके साथ कभी-कदास ही पत्राचार करते हैं, उन्हें अपने बहुत निकट अनुभव करते हैं।

*

आपने लिखा: "व्यक्ति 'भागवत चेतना' को निर्वैयक्तिक रूप में, बस एक नयी चेतना के रूप में ही अनुभव कर सकता है" लेकिन साथ में यह भी कि माँ की उपस्थिति इससे अधिक कुछ है। आपने एक और पत्र में यह भी लिखा था कि चेतना की अपेक्षा हृदय में 'भागवत उपस्थिति' कहीं अधिक होती है। किस अर्थ में चेतना से अधिक 'उपस्थिति' होती है?

मेरा मतलब यह था कि व्यक्ति भागवत चेतना का अनुभव एक निर्वैयक्तिक आध्यात्मिक अवस्था के रूप में कर सकता है, जिसमें उसे 'भागवत उपस्थिति' के अनुभव के बिना शान्ति, प्रकाश, आनन्द और विस्तार का अनुभव होता है। 'भागवत उपस्थिति' का अनुभव उस प्रकाश इत्यादि के जीवन्त स्रोत और सारतत्त्व के रूप में किया जाता है; यानी उसे एक 'सत्ता' के रूप में अनुभूत किया जाता है, वह मात्र एक आध्यात्मिक अवस्था नहीं होती। श्रीमाँ की 'उपस्थिति' इससे भी कहीं अधिक ठोस, सुनिश्चित और व्यक्तिगत होती है—वह किसी 'अनजान' व्यक्ति की, किसी 'शक्ति' या 'सत्ता' की नहीं बल्कि ऐसे की उपस्थिति होती है जो बहुत परिचित है, घनिष्ठ है, प्रिय है, जिसके प्रति हम अपनी समस्त सत्ता को ठोस तथा जीवन्त रूप में निवेदित कर सकते हैं। इसमें किसी आकार की अनिवार्यता नहीं होती,

हालाँकि उससे सहायता मिलती है—निराकार रूप में भी इस उपस्थिति का आन्तरिक रूप से अनुभव किया जा सकता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १७२-७४

प्रणाम के लिए आना

प्रणाम के लिए न आना क्या सामान्य रूप से विरोधी सुझाव का विचार होता है?

यह प्रायः हमेशा कोई विरोधी सुझाव ही होता है।

प्रणाम के लिए न आने के विचार को भला स्वीकार कैसे किया जा सकता है? कुछ ने यह रवैया अपनाया है।

इसके पीछे कई कारण अपना खेल रचते हैं; अहंकार—दूसरों की तरह न होने का गर्व, श्रीमाँ पर निर्भर न होने की भावना, अपनी किसी ग़लत क्रिया को माँ से छिपाने की इच्छा, ताकि वे उस पर टिप्पणी न कर सकें, 'सत्य' इत्यादि के दबाव के बिना, साधना को अपने ही तौर-तरीक़े से करने का विचार।

मेरे अन्दर प्रणाम के लिए न आने की कुछ अरुचि-सी पैदा हो गयी है, एक शुष्कता, किसी भी चीज़ में रस न लेने की प्रवृत्ति, माँ के प्रति प्रेम का अभाव-सा पैदा हो गया है। इस तरह के रूखेपन के साथ या बस अपनी सुरक्षा, शान्ति अथवा अपने किसी स्वार्थी उद्देश्य के लिए माँ के पास जाने का मतलब ही क्या है?

यह ऐसा सुझाव है जिसे पूरी तरह से निकाल बाहर फेंकना होगा। रूखेपन और उदासी के दौरों का आना वह सामान्य प्रहार है जो भौतिक चेतना को अपनी पकड़ में लेने की कोशिश करता ही रहता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ५५९

जब मैं श्रीमाँ के चित्रों या उनके चरण-कमलों की पेंटिंग के सम्मुख ध्यान के लिए बैठता हूँ तो दूर बैठने की अपेक्षा मुझे इसमें ज़्यादा शक्ति मिलती है—उदाहरण के लिए, जब अपनी आराम-कुरसी पर बैठता हूँ तो वह बात नहीं होती। मैंने ग़ौर किया है कि ऐसा सचमुच होता है और मुझे लगता है कि यह मेरी कोरी कल्पना नहीं है। लेकिन, मैं आपसे इसके पीछे की वास्तविकता जानना चाहता हूँ।

नहीं, यह कोरी कल्पना नहीं है। उन चित्रों या पेंटिंग के निकट ध्यान करके, तुम उनमें प्रवेश कर, माँ के साथ सम्पर्क में आने में समर्थ हो गये हो और उनकी उपस्थिति और शक्ति का कोई अंश उनमें होता ही है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १८३

श्रीमाँ की फ़ोटो के बारे में हुई तुम्हारी अनुभूति बहुत ही अच्छी है, यह सच्चा अनुभव है। जो कोई माँ को भक्ति-भाव से निहारता है उसे माँ की फ़ोटो के द्वारा उनकी उपस्थिति का अनुभव हो सकता है। वहाँ उनकी सच्ची उपस्थिति थी, उनकी सूक्ष्म-भौतिक उपस्थिति, और जो कुछ तुमने अनुभव किया वह सच था। यह इस बात को दर्शाता है कि तुम्हारा भौतिक मन सच्ची चेतना की ओर खुल रहा है। यह एकदम निश्चित है कि यह चीज़ विकसित होगी और पुरानी गतियों के अवशेष अवश्य ही विलीन हो जायेंगे।

श्रीमाँ का स्मरण करना

आज मैंने अनुभव किया कि एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज़ है भगवान्, और कुछ नहीं। इस अनुभूति को मैंने सारे दिन बनाये रखने का प्रयत्न किया, लेकिन जैसे ही मैं लिखने बैठा, मैंने उदासी और अस्त-व्यस्तता को आते हुए अनुभव किया। लेकिन फिर भी मैंने अपनी अनुभूति को याद रखा।

हमेशा यही करना चाहिये। जब उदासी और अस्त-व्यस्तता आयें तो उनके सामने हथियार डाल देने की बजाय अगर तुम तुरन्त माँ का स्मरण करो, उनकी ओर मुड़ जाओ, 'प्रकाश' तथा 'शक्ति' की टेर लगाते रहो, प्रभु को याद करते हुए बाक़ी सब कुछ को अस्वीकार कर दो तो ये दोष क्रमशः कम होते जायेंगे और समस्त प्रकृति में प्रकाश उतर आयेगा।

*

बाहरी प्रकृति धुँधली होती है और जब वह सुखी होती है तो माँ का स्मरण करने की आवश्यकता का अनुभव तक नहीं करती—जब मुश्किलें आती हैं तभी वह आवश्यकता अनुभव करती और उनका स्मरण करती है। लेकिन आन्तरिक सत्ता ऐसी नहीं होती।

*

करने-लायक़ बस एक ही चीज़ है—हमेशा माँ को याद रखो और जो

कुछ आये उन्हें समर्पित करते चलो। एक ऐसी अवस्था आनी चाहिये जिसमें तुम माँ की सतत उपस्थिति का अनुभव करते हुए आन्तरिक रूप से चैत्य चेतना में निवास करो, जब कि केवल सतह पर सभी दूसरी गतियाँ चलती रहें और माँ की 'शक्ति' उनको अधिकाधिक सच्ची चैत्य तथा आध्यात्मिक क्रिया में बदलने के लिए उन पर क्रिया करे।...

*

माँ को याद रखो और भौतिक रूप से उनसे दूर होने पर भी उन्हें अपने साथ अनुभव करो और अपनी आन्तरिक सत्ता की आवाज़ सुनो जो तुम्हें माँ की इच्छा का संकेत देती है। तब तुम उनकी और मेरी उपस्थिति का अनुभव सर्वोत्तम रूप से कर सकोगे और जहाँ कहीं जाओगे हमारे वातावरण को संग-संग लिये चलोगे जो तुम्हें हमारी सुरक्षा प्रदान करेगा तथा शान्ति और प्रकाश के घेरे में बाँधे रखेगा।

*

तुम्हारे लिए घर और अपने कार्य के बीच साधना करना बिलकुल सम्भव है —बहुतेरे इस तरह करते हैं। आरम्भ में आवश्यकता है—श्रीमाँ का अधिकाधिक स्मरण करो, प्रत्येक दिन नियत समय पर अपने हृदय में उन पर एकाग्र होओ, अगर सम्भव हो तो उनकी कल्पना दिव्य माँ की भाँति करो, अपने अन्दर उन्हें अनुभव करने की अभीप्सा करो, अपने कर्मों को उन्हें समर्पित कर दो और प्रार्थना करो कि अन्दर से वे तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सकती और तुम्हारी रक्षा कर सकती हैं। यह एक प्रारम्भिक अवस्था है जिसे चरितार्थ करने में प्रायः बहुत समय लगता है, लेकिन अगर साधक इस पथ पर सच्ची निष्कपटता और दृढ़ता के साथ चलता रहे तो धीरे-धीरे उसकी मानसिकता बदलने लगती है और उसके अन्दर एक नयी चेतना प्रकट हो जाती है जो अपने अन्दर श्रीमाँ की उपस्थिति के प्रति, अपनी प्रकृति और अपने जीवन में उनकी क्रिया के प्रति अधिकाधिक अभिज्ञ होने लगती है या फिर उनकी क्रिया ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करती है जो उपलब्धि की ओर द्वार खोल देती है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १८४-८६ *श्रीअरविन्द*

चैत्य द्वार

चैत्य तथा श्रीमाँ की उपस्थिति

माँ की उपस्थिति सदैव रहती है, लेकिन अगर तुम अपने ही हाँके चलने का निश्चय कर लो—अपने ही विचार, चीज़ों के बारे में अपनी ही धारणा, अपनी ही इच्छा और माँग को लादने पर कमर कस लो तो बहुत सम्भव है कि उनकी उपस्थिति आच्छादित हो जाये; वे तुमसे पीछे नहीं हटतीं, बल्कि तुम ही हो जो उनसे दूर सरक जाते हो। लेकिन तुम्हारा मन और प्राण इस बात को मानना नहीं चाहते, क्योंकि हमेशा अपनी गतिविधियों की सफ़ाई देना ही उनका धन्धा होता है। अगर चैत्य को उसका पूरा महत्त्व या प्रधानता दी जाये तो ऐसा नहीं होगा; वह आच्छादन का अनुभव कर पायेगा, और फ़ौरन यह भी कह देगा, "अवश्य ही मेरे अन्दर कोई भूल रही होगी, कोई धुँधलका छा गया होगा," और तब चैत्य अपने अन्दर झाँक कर उसका कारण जान लेगा।

> *जब मैं अकेला होता हूँ तो माँ के प्रति प्रेम के मधुर प्रवाह और समर्पण को अपने हृदय से उफनता हुआ महसूस करता हूँ। लेकिन जब मैं उनकी भौतिक उपस्थिति में होता हूँ तो इस प्रेम का अनुभव नहीं करता। ऐसा क्यों होता है?*

जब तुम चैत्य में रहते हो तब यह भाव उठता है—लेकिन फ़िलहाल चैत्य का प्रभुत्व तुम्हारे मन और प्राण के केवल एक भाग पर ही है—वह सबसे अधिक बाहरी हिस्से पर नियन्त्रण नहीं रख रहा है, माँ की भौतिक उपस्थिति में उसका अनुभव न करने का कारण यही है।

*

अगर तुम दिन के अधिकतम भाग में माँ की उपस्थिति का अनुभव करो तो इसका यह अर्थ है कि वह तुम्हारी चैत्य सत्ता है जो सक्रिय है और इसका अनुभव करती है—क्योंकि चैत्य की क्रिया के बिना ऐसा अनुभव करना सम्भव नहीं है। इसका यही अर्थ है कि तुम्हारी चैत्य सत्ता मौजूद है, वह तुमसे छिटक कर कहीं दूर बिलकुल नहीं चली गयी है।

तुम जो अनुभव कर रहे हो वह कल्पना नहीं है। तुम अपने अन्दर अधिकाधिक गभीर रूप से चैत्य चेतना में उतरते जा रहे हो। जब व्यक्ति चैत्य चेतना में होता है तो वह अपने अन्दर श्रीमाँ की उपस्थिति का अनुभव करने लगता है और कुछ समय बाद, जैसे-जैसे चैत्य अपनी शक्ति में विकसित होता जाता है, यह चीज़ अधिकाधिक अनुभव की जा सकती है, यह ओजस्वी और सत्य बन जाती है। अलग-अलग साधकों के अन्दर यह अलग-अलग तरीक़ों से अनुभव की जा सकती है, लेकिन यही होती है साधना की सच्ची अनुभूति। जब हम कहते हैं कि साधक को हमेशा अपने हृदय में या अपने अन्दर श्रीमाँ की उपस्थिति को अनुभव करना चाहिये तो उससे हमारा यही मतलब होता है। क्योंकि, वास्तव में वे हमेशा वहीं उपस्थित रहती हैं, केवल उनकी उपस्थिति मन, प्राण तथा भौतिक के सामान्य क्रिया-कलापों के परदे के पीछे छिपी रहती है, लेकिन जब ये शान्त हो जाते हैं और चैत्य परदे से बाहर निकल आता है तब व्यक्ति अपने अन्दर 'भगवान्' की उपस्थिति का अनुभव करने लगता है।

*

उसे अपने अन्दर गहरे पैठ कर, वहाँ भगवती माँ की उपस्थिति को और हृदय के पीछे चैत्य को पाना होगा, और वहीं से ज्ञान का उदय होगा और साथ ही आन्तरिक बाधाओं को विलीन कर देने की शक्ति भी आयेगी।

*

यह अच्छा है कि तुम बुरी अवस्था से बाहर निकल आये हो। यह सच है कि दर्शन के पहले या उस समय प्रहार उग्र होते ही हैं—क्योंकि जो शक्तियाँ विरोध करती हैं, बहुत सचेतन होती हैं और अगर हो सके तो दर्शन को बिगाड़ने के लिए अपनी पूरी ताक़त लगा देती हैं। उस समय व्यक्ति को अपने उस भाग को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिये जो हमेशा माँ की उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ होता है—निस्सन्देह वह चैत्य है—क्योंकि, भले कुछ समय के लिए वह ढक क्यों न जाये, लेकिन वह कभी भी विरोधी सुझावों के बहकावे में नहीं आ सकता। एक बार वह जाग उठे तो हमेशा अँधेरे से बाहर निकल ही आता है—यह अपने लक्ष्य के अन्तिम पड़ाव तक पहुँचने की 'गारंटी' है, लेकिन तुम उसे हमेशा अपने सम्मुख बनाये रख सकते हो, या फिर सभी अवस्थाओं के पीछे

सचेतन रूप से उसका अनुभव भी कर सकते हो, तब मील का हर पत्थर आपेक्षिक रूप में सुरक्षित बन जाता है और तुम पथ पर अधिक आसानी से और अधिक निरापद रूप से आगे बढ़ सकते हो।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १८६-८८

(श्रीअरविन्द की निम्नांकित बंगला रचनाओं की अंग्रेज़ी पुस्तक का नाम है—Bengali Writings—जो फ़िलहाल उपलब्ध नहीं है—सं.)

चैत्य और चैत्य-अवस्था के पीछे कोई अहंकार नहीं हो सकता। बहरहाल, प्राण से आया अहंकार अपने-आपको चैत्य से जोड़ना चाहता है। अगर तुम इस प्रकृति की किसी भी चीज़ को देखो तो उसे स्वीकार न करो, बल्कि उससे छुटकारा पाने के लिए उसे श्रीमाँ को समर्पित कर दो।

सीधा पथ चैत्य का पथ है; समर्पण के सहारे और सच्चे अन्तर्दर्शन के प्रकाश में, घुमावदार रास्ता लिये बिना वह सीधा ऊपर की ओर बढ़ता है; कुछ सीधा, कुछ टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता लेता है

तिरछा मन और पूरी तरह से चक्करदार रास्ता अपनाता है कामनाओं से भरपूर और ज्ञान से रहित प्राण; लेकिन चूँकि प्राण में ही सच्ची लगन और प्यास होती है, इस कारण उस पथ पर चलना उसके लिए सम्भव होता है।

बंगला रचनाएँ पृ. ३९९

श्रीमाँ पर भरोसा रखना

अगर तुम किसी कामना में रस लो, साधना के फल के लिए बेचैन हो उठो तो तुम शान्त और नीरव कैसे हो सकते हो भला? मानव प्रकृति को रूपान्तरित करने-जैसा महान् कार्य पल-भर में हो सकता है क्या? शान्त रहो, माँ की शक्ति को अपने अन्दर काम करने दो, तब समय आने पर सब कुछ चरितार्थ हो जायेगा।

अगर तुम अन्दर से शान्त रहो, समर्पण की अवस्था में बने रहो तो बाधाएँ और कठिनाइयाँ तुम्हें बेचैन नहीं कर पायेंगी। दुःख और बेचैनी और "यह क्यों नहीं हो रहा है? यह कब होगा?"—अगर तुम इस तरह के भावों को अपने अन्दर आने की अनुमति दे दो, तब बाधाएँ और कठिनाइयाँ

मज़बूत हो जायेंगी। तुम इन पर इतना ध्यान क्यों देते हो भला? श्रीमाँ पर एकाग्र होओ। शान्त बने रहो और अन्दर ही अन्दर समर्पण करते चलो। निम्न प्रकृति के तुच्छ दोषों से आसानी से पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। इनसे विक्षुब्ध होना व्यर्थ है। जब माँ की 'शक्ति' पूरी तरह से तुम्हारी सत्ता को, नीचे अवचेतना तक, घेर लेगी तब ये चीज़ें चली जायेंगी। इसे चरितार्थ होने में कितना समय लगेगा इसकी चिन्ता मत करो। पूर्ण रूपान्तर में समय लगता है।

*

हम न तो तुमसे दूर हट गये हैं, न ही हमने तुम्हें छोड़ दिया है। जब तुम्हारा मन और प्राण विक्षुब्ध हो जाता है तब ये ग़लत विचार तुम्हारे मन में घुस आते हैं। भले अहंकार सिर उठाये और कठिनाइयाँ तुम्हें घेर लें, तुम्हें माँ पर विश्वास को कभी नहीं खोना चाहिये। चुपचाप और शान्त रह कर उन्हें पुकारते रहो, तब कठिनाइयाँ और अहंकार तुम्हें छोड़ देंगे।

बंगला रचनाएँ पृ. ३७७

व्यक्ति को हमेशा इसी तरह की *भावना* और सन्देहरहित श्रद्धा रखनी चाहिये। क्योंकि साधक की यह *श्रद्धा*, यह *विश्वास* और यह *दृढ़ धारणा* ही 'माँ की शक्ति' को क्रिया करने देने के लिए बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

*

आध्यात्मिक अभ्यास दृढ़ तथा शान्त मन के साथ करना चाहिये और साथ ही होनी चाहिये अटूट श्रद्धा और माँ पर पूरा भरोसा। वहाँ *उदासी* को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। अगर वह आ भी जाये तो उसे अस्वीकार कर, एकदम परे हटा देना चाहिये। "मैं दीन हूँ, स्वार्थी हूँ, मुझसे कुछ नहीं हो सकता। माँ ने मुझे दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर कर दिया है। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"—जब-जब ऐसे विचार आयें, तुम्हें यह अच्छी तरह समझना चाहिये कि ये निम्न प्रकृति के *सुझाव* हैं और योग के सत्य के एकदम विपरीत हैं। ऐसे विचारों को कोई स्थान न दो।

*

तुम दुःखी क्यों हो रहे हो? अगर व्यक्ति श्रीमाँ पर निर्भर रहे और सभी परिस्थितियों में अचञ्चल बना रहे तो उदासी का कोई प्रश्न ही

नहीं उठता। व्यर्थ ही मनुष्य अपने साथी-मनुष्यों से सुख और शान्ति की प्रत्याशा रखता है।

*

एक बार माँ के साथ आन्तरिक ऐक्य स्थापित हो जाये तो इस तरह के विचार और भय की जगह व्यक्ति को यह निश्चिति और माँ पर यह श्रद्धा रखनी होगी कि हज़ारों मुश्किलों, अनगिनत भूलों और बाहरी प्रकृति में समस्त अन्धकार के बावजूद, 'उनकी' विजय सुनिश्चित और अनिवार्य है।

*

व्यक्ति को हमेशा श्रीमाँ पर यह सम्पूर्ण श्रद्धा रखनी होगी कि वह उनकी छत्रच्छाया, उन्हीं के हाथों में है, यह कि उनकी शक्ति से सब कुछ सम्पन्न हो जायेगा। इसलिए कोई भी बाधा उदासी या हताशा नहीं ला सकती।

बंगला रचनाएँ पृ. ३८७-८८

विक्षोभ और कठिनाइयाँ

सच तो यह है कि काम में तुम्हें अहंकार या बाहरी प्रकृति का शिकार नहीं होना चाहिये। अगर तुम उसमें इलझ जाते हो तो काम साधना का अंग नहीं हो सकता; उसके बदले वह तुच्छ और साधारण काम बन जाता है। काम को भी अन्दर से समर्पण की भावना के साथ करना चाहिये।

बंगला रचनाएँ पृ. ३७७-७८

आजकल कुछ लोगों में ये प्राणिक गड़बड़ें बार-बार हो रही हैं। बीमारी की तरह ये एक से दूसरे में जा रही हैं; ख़ासकर ये विचार बहुत प्रबल रूप में उठ रहे हैं, "मैं मरना चाहता हूँ, मैं इस शरीर को रखना नहीं चाहता, इस शरीर में योग और साधना करना सम्भव नहीं है।" बहरहाल, यह विचार कि, "शरीर छोड़ कर, बिना किसी कठिनाई के मैं दूसरे शरीर में योग में सिद्धि प्राप्त कर लूँगा" एकदम से भूलभरा विचार है। अगर तुम इस तरह से शरीर छोड़ दो तो अगले जनम में इससे भी कहीं ज़्यादा कठिनाइयों का सामना तुम्हें करना होगा और श्रीमाँ के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। यह सब विरोधी शक्तियों का प्रहार है। उनका लक्ष्य ही होता है—साधक की साधना को तोड़ देना, श्रीमाँ के स्वास्थ्य को भंग

करना, आश्रम तथा हमारे कार्य को नष्ट करना। तुम्हें बहुत सतर्क रहना होगा। उन्हें अपने अन्दर घुसने मत दो।

बंगला रचनाएँ पृ. ३८१

कठिनाइयाँ मनुष्यों के बाहरी स्वभाव का परिणाम होती हैं। यह स्वभाव एक दिन या कुछ दिनों में नहीं बदलता, यहाँ तक कि महान् साधकों में भी ऐसा नहीं होता। लेकिन अगर तुम पूरी तरह से माँ पर निर्भर रह सको और नीरवता तथा शान्ति में उनके प्रति अभीप्सा करते रहो और चिन्ता के बिना अपने पथ पर आगे बढ़ते रहो तो कठिनाइयाँ तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं, भले वे तुम्हारे रास्ते में बाधा बन कर खड़ी हो जायें। समय के साथ-साथ उनकी शक्ति कम होकर, नष्ट हो जायेगी और फिर उनका कोई नामोनिशान नहीं रहेगा।

*

हर एक के अन्दर इस तरह की कठिनाई होती ही है। श्रीमाँ के साथ हर पल तादात्म्य प्राप्त करना आसानी से नहीं किया जा सकता। इसे सतत आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा ही किया जा सकता है।

*

कठिनाइयों का ज़्यादा महत्त्व नहीं होता। वे और कुछ नहीं, बस मनुष्यों की बाहरी प्रकृति का आईना होती हैं। माँ की 'शक्ति' के द्वारा उन्हें क्रमशः बाहर खदेड़ दिया जायेगा। इसलिए चिन्ता या अवसाद का कोई कारण ही नहीं है।

*

हमेशा माँ का स्मरण करते रहो। उनको टेर लगाते रहो। तब कठिनाइयाँ ग़ायब हो जायेंगी। डरो मत, कठिनाइयों से उद्विग्न मत होओ। स्थिरता के साथ श्रीमाँ को पुकारते रहो।

*

कठिनायाँ भले अनन्त लगें, लेकिन उनका यह *लगना* सच्चा नहीं होता। यह बस राक्षसी भ्रम होता है। सत्य के पथ पर चलते रहने से अन्त में रास्ता साफ़ हो जाता है।

*

बात ऐसी है कि कठिनाइयाँ किसी का पल्ला आसानी से नहीं छोड़तीं, यहाँ तक कि महान् योगियों का भी नहीं। प्राणिक या भौतिक कठिनाई की अपेक्षा मानसिक कठिनाई से पल्ला झाड़ना कुछ आसान होता है। प्राणिक तथा भौतिक कठिनाइयों से मुक्त होने में समय लगता है।

*

क्या फ़र्क पड़ता है? महान् साधक भी कठिनाइयों के प्रति खुले होते हैं। अगर व्यक्ति *चैत्य अवस्था* में रह सके, अगर वह माँ के साथ एकात्म हो सके तो इन सारे प्रहारों का नष्ट होना अवश्यम्भावी है।

बंगला रचनाएँ पृ. ३८३-८५

इस मामले में चिन्ता मत करो। माँ की उपस्थिति को याद रखना हमेशा आसान नहीं होता। जब सारी सत्ता माँ की *उपस्थिति* से भर जाती है तब तुम मानों यन्त्रचालित रूप से उनका स्मरण करते रहोगे, और किसी भी तरीक़े से उन्हें भूल न पाओगे।

*

चुपचाप अपनी साधना में लगे रहो। तब दुःख या उदासी तुम्हारे पास फटकेंगे तक नहीं। और अन्ततः समस्त अन्धकार ग़ायब हो जायेगा।

*

अवचेतना में उठती हुई तामसिक अवस्था जब शरीर पर प्रहार करती है तो व्यक्ति को लगता है मानों वह बीमार हो। ऊपर से माँ की शक्ति का अपने शरीर के अन्दर उतरने के लिए आवाहन करो। यह सब चला जायेगा।

*

अवचेतना की कठिनाइयों से पीछा छुड़ाने के लिए पहले व्यक्ति को उन्हें पहचानना होगा, फिर उनका बहिष्कार करना होगा, और अन्त में श्रीमाँ के आन्तरिक या उच्चतर प्रकाश को अपने शरीर की चेतना में लाना होगा। तब अवचेतना की अज्ञानी गतियों को निकाल बाहर कर दिया जायेगा और दूसरी चेतना की गतियों को प्रतिष्ठित कर दिया जायेगा। लेकिन इसे आसानी से नहीं किया जा सकता; तुम्हें बड़े धीरज के साथ इसमें लगे रहना होगा; यह बड़े दृढ़निश्चयी धैर्य की माँग करता है। इसे करने का एकमात्र साधन है—श्रीमाँ में श्रद्धा और विश्वास रखना। बहरहाल, अगर तुम अन्दर की

ओर मुड़े रहो और आन्तरिक दृष्टि और चेतना को बनाये रखो तो तुम्हें अधिक दुःख और श्रम का सामना नहीं करना पड़ता—लेकिन यह करना हमेशा सम्भव नहीं होता और उसी समय श्रद्धा और धीरज विशेष रूप से आवश्यक बन जाते हैं।

जब भौतिक चेतना मज़बूत होती है तब वह अन्य सभी चीज़ों को ढक देती और सारी सत्ता पर छा जाने की कोशिश करती है, यह तब होता है जब भौतिक चेतना स्पष्ट रूप में अपने स्वभाव को दर्शाती है, और तब सब कुछ तमस् और अन्धकार से उफनता हुआ, ज्ञान के प्रकाश से ख़ाली और शक्ति की ऊर्जा से रहित लगता है। इस अवस्था को कभी मत स्वीकारो—अगर यह आये तो माँ के प्रकाश और उनकी शक्ति को पुकारो कि वे तुम्हारी शारीरिक चेतना में प्रवेश करें और उसे प्रकाशमान् और बलवान् बना दें।

बंगला रचनाएँ पृ. ३८९-९२

कठिनाइयाँ आसानी से नहीं जातीं। यहाँ तक कि किसी बहुत बड़े साधक की सभी कठिनाइयाँ किसी नियत दिन, चटपट ग़ायब नहीं हो जातीं। मैं न जाने कितनी बार यह बात कह चुका हूँ कि व्यक्ति को शान्त और अचञ्चल रहना और श्रीमाँ पर पूर्ण श्रद्धा रख कर, पथ पर धीमे-धीमे आगे बढ़ना चाहिये—इसे पलक झपकते नहीं किया जा सकता। "मैं आज ही सब कुछ चाहता हूँ": अगर तुम यह माँग करो तो इससे अधिक कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। तुम्हें अचञ्चल और शान्त रहना होगा।

*

पहले शान्ति को आना चाहिये; जब तक सम्पूर्ण यन्त्र शान्ति से भर न जाये, ज्ञान का नीचे उतरना मुश्किल होता है। एक बार शान्ति सुप्रतिष्ठित हो जाये, माँ की विस्तृत अनन्त चेतना स्वयं को अभिव्यक्त कर ले तो अहंकार उसमें डूब जाता है और अन्त में बिना कोई चिह्न छोड़े, विलीन हो जाता है। उस अनन्तता में केवल माँ तथा उनका शाश्वत अंश ही बचा रहता है।

यह बहुत बढ़िया है। ऐसी अनुभूति एकदम सच्ची होती है। जब यह शान्ति सारी सत्ता में फैल कर स्थिर, ठोस और स्थायी हो जाती है तब आध्यात्मिक चेतना की पहली नींव पड़ जाती है।

स्नायविक तन्त्र में शान्ति और शक्ति को उतार लाना स्नायुओं को मज़बूत करने का एकमात्र उपाय है।

बंगला रचनाएँ पृ. ३९८-४०१

तुम्हारे अन्दर से जो बात उठी है वह एकदम से सच है। केवल भ्रान्तियाँ, भूलें, मिथ्यात्व और दुःख-दर्द ही बाहरी प्रकृति से आते हैं जो छोटे से अहंकार के खेल का एक मैदान होती है। व्यक्ति को अन्तर्मुखी रहना चाहिये—और उस चेतना को अपने अन्दर विकसित करते रहना चाहिये जिसमें सच्ची भावना और सच्ची दृष्टि हो और जिसमें अहंकार, दर्प और कामना का लवमात्र भी न हो। तब माँ की चेतना तुम्हारे अन्दर सुस्थापित हो जायेगी। मानव स्वभाव के दर्प, संघर्ष और कठिनाइयों का अन्त हो जायेगा।

व्यक्ति बाधाओं के बारे में जितना ज़्यादा सोचेगा उतनी ज़्यादा वे उसे अपनी शक्ति से अभिभूत कर लेंगी। व्यक्ति को स्वयं को श्रीमाँ के प्रति खोलना चाहिये, उसे भगवान्, प्रकाश, शान्ति तथा आनन्द के बारे में अधिक सोचना चाहिये।

जितनी ज़्यादा यह असीम शान्ति बढ़े उतना ही अच्छा। शान्ति ही योग की नींव है।

जब ख़ाली-ख़ाली लगे तो शान्त रहो और माँ को पुकारो। सभी के अन्दर ख़ालीपन का भाव आता है, केवल तभी जब वह अवस्था शान्ति से भरी हो, लाभदायक हो सकती है। अगर उसमें अशान्ति हो तो कोई परिणाम नहीं आ सकता।

बंगला रचनाएँ पृ. ४०१

यह भावना बहुत अच्छी है। जो कुछ श्रीमाँ तुम्हारे अन्दर उँडेल रही हैं उसे तुम्हें अनुभव करना चाहिये—बाहरी रूप-रंग को देख कर लोग कितनी, कितनी भूलें करते हैं। वे आन्तरिक उपहार को स्वीकार करना भूल जाते हैं या फिर उसे स्वीकार करने में असमर्थ होते हैं।

*

हीरक प्रकाश माँ का सबसे तेज़ प्रकाश है। इस प्रकाश के लिए यह

सामान्य बात है कि यह उनके शरीर से निकल कर साधक के ऊपर फैल जाये, बशर्ते कि वह उचित अवस्था में हो।

बंगला रचनाएँ पृ. ४०३

माँ से निसृत कोई चीज़ या उनकी सत्ता और चेतना का कोई अंश उनसे निकल कर प्रत्येक साधक के पास जाता है और उनका वह रूप या वह प्रतिनिधि साधक की सहायता के लिए उसके निकट रहता है। वस्तुतः, वे माँ ही हैं जो उस रूप में बाहर प्रकट होती हैं।

*

यह कोई कल्पना नहीं है। माँ के कई व्यक्तित्व हैं और प्रत्येक का भिन्न रूप होता है। कभी-कभी वे व्यक्तित्व स्वयं को उनके शरीर में अभिव्यक्त करते हैं। श्रीमाँ जो पोशाक, यानी जो साड़ी पहनती हैं, उसी की समस्वरता के अनुसार वे अमुक प्रकाश और शक्ति के साथ साधकों का प्रणाम स्वीकारने के लिए नीचे उतरती हैं।

बंगला रचनाएँ पृ. ४०६, ४०८

श्रीमाँ पर निर्भर होना

"साधना में मैं कितनी दूर आ चुका हूँ, मुझे और कितना रास्ता पार करना है?"—ऐसे प्रश्नों का कोई बहुत महत्त्व नहीं होता। माँ हैं तुम्हारी 'खेवैया', बस प्रवाह के साथ आगे ही आगे तैरते चलो। वे तुम्हें तुम्हारे निर्दिष्ट बन्दरगाह पर पहुँचा देंगी।

*

बस माँ ही हैं तुम्हारा लक्ष्य। वे अपने अन्दर सब कुछ धारण किये हुए हैं। उन्हें पा जाना सब कुछ पा जाना है। अगर तुम उनकी 'चेतना' में रहो तो बाक़ी सब कुछ अपने-आप ही तुम्हारे अन्दर खिलता रहेगा।

*

माँ का मनोभाव कभी नहीं बदलता। वह हमेशा वह का वही बना रहता है। जब साधक अपने मानसिक विचारों के अनुसार उनको देखता है तब वह उनके मनोभाव में परिवर्तन पाता है। लेकिन यह सच नहीं है।

*

तुम 'भगवती माँ' के बिना नहीं हो। माँ सचमुच तुम्हारे साथ हैं। उच्चतर प्रकाश और उच्चतर चेतना को नीचे उतारने के लिए ही साधक नीचे नरक तक उतरता है। इस विश्वास को लेकर, स्थिर और सबल हृदय के साथ अपने पथ पर बढ़ते चलो। प्रकाश और चेतना का अवतरित होना अवश्यम्भावी है।

*

व्यक्ति को इस विश्वास को लिये आध्यात्मिकता का अभ्यास नीरवता के साथ, शान्त रह कर, बिना भयभीत हुए निरन्तर करते रहना चाहिये कि श्रीमाँ की विजय सुनिश्चित रूप से होकर रहेगी।

*

कौन चला जायेगा? वे जिनके अन्दर कोई निष्कपटता, माँ पर कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं होता; वे जो अपनी ही कल्पनाओं को माँ की इच्छा से कहीं अधिक महान् समझते हैं, वे चले जा सकते हैं। लेकिन वह जो 'सत्य' की खोज करता है, जिसके अन्दर श्रद्धा और भरोसा है, जो माँ को ही पाना चाहता है, जिसे किसी चीज़ का डर नहीं होता; भले हज़ारों कठिनाइयाँ उसके सम्मुख हों, वह उन पर विजय पा लेगा; भले उसके स्वभाव में अनगिनत दोष हों, वह उन्हें सुधार लेगा; भले वह गिर जाये, वह ऊपर उठेगा और अन्ततः एक दिन वह अपनी साधना के लक्ष्य को पा लेगा।

*

यह उचित मनोभाव नहीं है, तुम्हारी साधना नष्ट नहीं हो गयी है, माँ ने तुम्हारा त्याग नहीं कर दिया है; वे न तुमसे दूर हट गयी हैं और न ही तुमसे नाख़ुश हैं—ये सब प्राणिक कल्पनाएँ हैं और तुम्हें उन्हें कोई जगह नहीं देनी चाहिये। श्रीमाँ पर सच्चा-सरल और शान्त विश्वास रखो। कठिनाइयों से भय खाये बिना 'माँ की शक्ति' को पुकारते रहो। जो कुछ तुमने पाया है वह सब तुम्हारे अन्दर है; तुम और भी आगे प्रगति करते चलोगे।

*

शान्त-अचञ्चल और सचेतन रहो। माँ को पुकारो, अच्छी अवस्था लौट आयेगी। पूर्ण समर्पण करने में समय लगता है। उन सब चीज़ों को निरन्तर समर्पित करते रहो जो तुम्हें लगता है कि अभी तक बची हुई हैं। बस इसी

तरह, बार-बार, लगातार ऐसा करते रहने से ही समर्पण सम्पूर्ण होता है।

*

हमेशा अचञ्चल रहो और माँ की उच्चतर 'चेतना' को अपने अन्दर उतरने दो—केवल यही तुम्हारी बाहरी प्रकृति को क्रमशः रूपान्तरित कर सकती है।

*

प्रभु का बालक होने के बावजूद, ऐसा कोई साधक नहीं है जिसके स्वभाव में अगण्य दोष न हों। जैसे ही व्यक्ति इनके प्रति अभिज्ञ हो जाये, उसे उनका त्याग अनिवार्य रूप से कर देना चाहिये; व्यक्ति को 'श्रीमाँ की शक्ति' के लिए अधिक उत्कण्ठा से अभीप्सा करनी चाहिये ताकि उसके स्वभाव के ये छोटे-मोटे दोष धीरे-धीरे जड़ से उखाड़ दिये जायें; लेकिन माँ पर श्रद्धा, समर्पण और भरोसा हमेशा अक्षुण्ण बने रहने चाहियें। इन दोषों से छुटकारा पाने के लिए बात बस समय की होती है; व्यक्ति को इस चीज़ से परेशान नहीं होना चाहिये कि उसके अन्दर त्रुटियाँ बनी हुई हैं।

*

इससे तुम्हें परेशान नहीं होना चाहिये। योग-पथ पर भौतिक चेतना और अवचेतना में उतरने के समय ऐसी अवस्था अनिवार्य रूप से आती ही है—और यह काफ़ी समय तक बनी भी रह सकती है। लेकिन परदे के पीछे श्रीमाँ उपस्थित हैं और बाद में वे अपने-आपको अवश्य प्रकट करेंगी; यह निम्न राज्य उस राज्य में रूपान्तरित हो जायेगा जो ऊपर स्थित है—इस अटल श्रद्धा को बनाये रखो, और निष्ठा के साथ अपना सब कुछ समर्पित करते हुए, उस अवस्था के अन्त की ओर बढ़ते रहो जिसके अन्दर कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं; ताकि तुम उन सबको पार कर प्रकाश में निकल आओ।

*

बाहरी जगत् के साथ सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये, लेकिन वह सब बाहरी सतह पर ही रहना चाहिये। तुम्हें अन्दर, माँ के बहुत निकट जीना चाहिये और वहीं से सब चीज़ों का अवलोकन करना चाहिये—तुमसे इसी की माँग की जाती है। यह कर्मयोग का पहला चरण है। उसके बाद, अन्दर रहते हुए, श्रीमाँ की शक्ति की कृपा के साथ सभी बाहरी क्रिया-कलापों को

करना चाहिये। यह दूसरा चरण है। अगर तुम इतना कर सको तो तुम्हें आगे तकलीफ़ें नहीं उठानी पड़ेंगी।

*

इतना तुम्हें हमेशा याद रखना चाहिये कि अगर तुम श्रीमाँ पर पूरा भरोसा रखते हुए आगे बढ़ो तो चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ, चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयें, चाहे जितना भी समय क्यों न लगे, तुम अपने लक्ष्य तक निश्चित रूप से पहुँच कर रहोगे—कोई भी बाधा, कोई भी विलम्ब या विरोधी अवस्था तुम्हारी अन्तिम सफलता पर ताला नहीं लगा सकती।

*

प्रणाम या दर्शन के समय श्रीमाँ के बाहरी आभास को देख कर यह मान लेना सही नहीं है कि वे प्रसन्न हैं या अप्रसन्न। लोग निरन्तर यह मान कर ग़लती करते रहते हैं कि माँ अप्रसन्न हैं, माँ कठोर हैं, माँ मुझे नहीं चाहतीं, वे मुझे अपने से दूर रख रही हैं, इत्यादि। इसलिए वे कई मिथ्या धारणाएँ बना लेते हैं; फिर हताशा में डूब कर वे पथ पर अपनी ही कठिनाइयों से घिर जाते हैं। यह सब करने की जगह, अपने अन्दर माँ के प्रति निष्कम्प विश्वास, प्रेम और सहायता को बनाये रखो और साधना के पथ पर शान्त और प्रसन्न मन से आगे कूच करते चलो। जो यह करते हैं, सुरक्षित रहते हैं। जब कठिनाई आती और अहंकार जाग उठता है तो वह उन्हें छूता नहीं, वे कहते हैं, "श्रीमाँ हैं, वे जो कुछ करती हैं, सही है; हालाँकि हो सकता है कि अभी मैं उन्हें देख न पाऊँ, फिर भी वे मेरे साथ हैं, मेरे चारों ओर हैं; मेरे लिए डरने की कोई वजह नहीं है।" तुम्हें यही करना चाहिये। व्यक्ति को यह विश्वास बनाये रख कर, साधना को जारी रखना चाहिये।

*

नीला प्रकाश मेरा है, श्वेत प्रकाश श्रीमाँ का है। जब 'उच्चतर चेतना' अपनी विश्वभावापन्नता में सत्ता में उतरना शुरू करती है तब नीले प्रकाश को देखना बिलकुल स्वाभाविक है।

*

श्वेत गुलाब श्रीमाँ के प्रति समर्पण का प्रतीक है। उसका परिणाम होगा, तुम्हारे आधार में प्रकाश और सत्य का विस्तार। श्वेत कमल का

अर्थ है, तुम्हारे मानसिक स्तर पर माँ की पूर्ण जाग्रत् 'चेतना' का फैलाव। लाल-सुनहरा रंग है, भौतिक में अतिमानस की छटा।

बंगला रचनाएँ पृ. ४१२-२३

भक्ति—श्रद्धा—भरोसा

शान्त और अचञ्चल बैठ कर, श्रीमाँ का स्मरण करना, उनके प्रति स्वयं को उद्घाटित करना। यह है ध्यान का नियम।

*

दोनों तरह से करना सर्वोत्तम है। अगर दूर से साधना करना सम्भव हो तो वह उत्तम होगा, लेकिन ऐसा हमेशा नहीं किया जा सकता। लेकिन तथ्य यह है कि तुम्हें अपनी साधना एक सुरक्षित स्थान बना कर या चैत्य में एक छोटा-सा दुर्ग रच कर करनी चाहिये—अर्थात्, चञ्चल हुए बिना, माँ पर शान्त और अचञ्चल रूप से निर्भर रहो, प्रसन्नता से कहो कि माँ जो कहती हैं वह सही है। बड़ी-बड़ी अपूर्णताओं की अपेक्षा ये छोटी-छोटी अपूर्णताएँ अधिक बड़ी बाधाएँ होती हैं। लेकिन धीरे-धीरे इन्हें बाहर निकालना होगा और अपूर्णताओं को पूर्णताओं में बदलना होगा। यह सब एकदम तुरत-फुरत नहीं किया जा सकता।

*

सत्य के प्रति सीधा रास्ता हृदय में खुलता है। जो कुछ समर्पित किया जाता है वह ऊपर उठ कर माँ के पास चला जाता और उनके 'सत्य' में मिल कर सत्य बन जाता है।

*

न डरो और न ही परेशान होओ। यह योग-पथ है। तुम्हें अन्धकारभरी अवस्था के पार जाना होगा; अन्धकार में भी तुम्हें शान्त बने रहना होगा।

*

तपस्या है : शान्त-अचञ्चल रहना, श्रीमाँ को पुकारते रहना, उद्विग्नता, बेचैनी, उदासी, कामनाओं और लालसाओं को शान्त मन से बाहर निकालते रहना।

*

क्या यह बहुत ज़्यादा शेखी बघारना नहीं है कि यह सब केवल तुम्हारी

वजह से हुआ है? "मैं बहुत अच्छा हूँ, बहुत बलशाली हूँ, सब कुछ मेरे द्वारा ही किया जा रहा है, मेरे बिना माँ का कार्य नहीं किया जा सकता।" निर्विवाद रूप से यह एक प्रकार का घमण्ड है। "मैं बुरों से भी बुरा हूँ। मेरे विरोध के कारण सब कुछ जहाँ का तहाँ ठहर गया है। प्रभु अपना कार्य आगे नहीं बढ़ा सकते।" यह विरोधी तरीक़ा है, एक दूसरी तरह का घमण्ड।

*

हमेशा अचञ्चल रहो, शान्ति के साथ श्रीमाँ की 'शक्ति' को पुकारते रहो और समस्त चिन्ताओं को निकाल बाहर खदेड़ दो।

*

जब चेतना विशाल और वैश्व बन जाती है तथा समस्त विश्व में श्रीमाँ का दर्शन करती है, तब अहंकार चिपकता नहीं। केवल तुम्हारी सच्ची सत्ता, जो माँ का बालक और उनका एक अंश है, माँ की गोदी में विश्राम करती है।

बंगला रचनाएँ पृ. ४२४-३०

नींद में माँ को अनुभव करना

अपनी कविता में 'क्ष' जो लिखता है क्या वह सम्भव है?
वह कहता है: "निद्रा की गहराइयों में भी मैं पूर्ण जाग्रत् हूँ,
तेरी मधुर 'उपस्थिति' के प्रति जो सदैव उपस्थित है।"

ऐसा होता है, लेकिन सामान्यतः केवल तभी जब चैत्य पूरी तरह से क्रियाशील हो।

*

(नींद में माँ की उपस्थिति का अनुभव करना) स्वाभाविक रूप में जाग्रत् अवस्था में भी चलता रहता है, लेकिन इसमें कुछ समय ज़रूर लगता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १८८-८९ **श्रीअरविन्द**

श्रीमाँ की उपस्थिति के प्रति खुलना

उद्‌घाटन का अर्थ

सच्चा उद्‌घाटन क्या है?

वह है, श्रीमाँ की उपस्थिति और उनकी शक्तियों को ग्रहण करना।

इस उद्‌घाटन को पाने का ठीक-ठीक और पूरा तरीक़ा क्या है?

अभीप्सा, स्थिरता, ग्रहण करने के लिए स्वयं को फैलाना, उन सब चीज़ों का त्याग करना जो तुम्हें भगवान् की ओर से बन्द कर देने की कोशिश करती हों।

यह कैसे जाना जा सकता है कि मैं श्रीमाँ की ओर खुल रहा हूँ, अन्य किसी शक्ति की ओर नहीं?

तुम्हें जाग्रत् रहना होगा और यह देखना होगा कि तुम्हारे अन्दर विक्षोभ, कामना, अहंकार आदि की कोई क्रिया न हो।

श्रीमाँ के प्रति सच्चे उद्‌घाटन के चिह्न क्या-क्या हैं?

वह स्वयं अपने-आपको तुरत दिखा देता है—जब तुम दिव्य शान्ति, समता, विशालता, ज्योति, आनन्द, ज्ञान, शक्ति का अनुभव करते हो, जब तुम श्रीमाँ के सान्निध्य या उपस्थिति या उनकी शक्ति की क्रिया आदि के विषय में सचेतन होते हो। अगर इनमें से किसी भी चीज़ का अनुभव हो तो इसका अर्थ है कि उद्‌घाटन है—अगर अधिक चीज़ों का अनुभव हो तो समझना होगा कि उद्‌घाटन अधिक पूर्ण है।

सत्ता की सभी गाँठों को खोलने का क्या तरीक़ा है?

अभीप्सा करनी चाहिये, सत्ता को भागवत शक्ति की क्रिया को अपने अन्दर कार्य करने की अनुमति देनी चाहिये ताकि वह शक्ति अवतरित हो क्रिया कर सके।

२५ अप्रैल १९३३

"उद्घाटन" का अर्थ क्या है? क्या यह नहीं है कि "श्रीमाँ से कोई चीज़ छिपा कर नहीं रखनी चाहिये?"

यह उद्घाटन का पहला चरण है।

कैसे उद्घाटित हों

व्यक्ति कैसे "उद्घाटित" होता है?

शान्त मन में श्रद्धा और समर्पण द्वारा।

*

उद्घाटित होने का सीधा-सीधा अर्थ है, इस भाव के साथ माँ के प्रति मुड़ना कि कोई भी चीज़ उनकी क्रिया को अस्वीकार किये बिना, उसमें बाधक बने बिना, उनकी शक्ति को तुम्हारे अन्दर कार्य करने दे। अगर मन अपने ही विचारों में बन्द रहे और अपने अन्दर उनके 'प्रकाश' और 'सत्य' को आने की अनुमति न दे, अगर प्राण अपनी ही कामनाओं से चिपका रहे और श्रीमाँ जो शक्ति लाती हैं उनके प्रति सच्ची दीक्षा और आवेग को अस्वीकार करे, अगर भौतिक अपनी ही लालसाओं, आदतों और तमस् में बन्द रहे और 'प्रकाश' तथा 'शक्ति' को अपने अन्दर प्रवेश कर, कार्य करने की अनुमति न दे तब व्यक्ति उद्घाटित नहीं है। सभी गतियों में एक साथ पूरी तरह उद्घाटित होना सम्भव नहीं है, लेकिन प्रत्येक भाग में एक केन्द्रीय उद्घाटन और प्रत्येक भाग में (न केवल मन में) एक प्रबल अभीप्सा होनी चाहिये ताकि केवल श्रीमाँ की क्रियाओं को अनुमति दी जाये, बाक़ी सब कुछ क्रमशः सम्पन्न हो जायेगा।

*

श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित होने का अर्थ है कि तुम हमेशा शान्त, प्रसन्न और विश्वस्त रहो, अशान्ति या उदासी से घिरे मत रहो, अपने अन्दर उनकी शक्ति को कार्य करने दो, उसे तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने दो, तुम्हें ज्ञान प्रदान करने दो, तुम्हें शान्ति और आनन्द प्रदान करने दो। अगर तुम स्वयं को उद्घाटित न रख सको तो निरन्तर लेकिन चुपचाप यह अभीप्सा करते रहो कि तुम उद्घाटित हो सको।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५०-५१ **श्रीअरविन्द**

साधना में श्रीमाँ का पथ-प्रदर्शन

दिव्य माँ,

मैं निम्न बातों को जानना चाहता हूँ :

क्या मेरे अन्दर इस मार्ग के लिए क्षमता और सम्भावनाएँ हैं?

यह कोई प्रश्न नहीं है, प्रश्न यह है कि क्या तुम्हारे अन्दर आवश्यक अभीप्सा, दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय है और क्या तुम अपनी अभीप्सा की तीव्रता और आग्रह के द्वारा अपनी सत्ता के समस्त अंगों को पुकार का उत्तर देने के लिए और समर्पण के लिए एक कर सकते हो?

मैं घर लौटने के बाद अपनी साधना कैसे जारी रखूँ?

अपने-आपको शान्त करो और शान्ति में माँ को[१] देखो और अनुभव करो।

मैं ध्यान कैसे कर सकता हूँ? खुलने का मतलब क्या है? मैं कहाँ पर खुलूँ?

आन्तरिक शुद्धि और ग्रहणशीलता जो मुक्त भाव से माँ के प्रभाव को अन्दर आने दे। हृदय से आरम्भ करो।

मैं सिर के ऊपर से उच्चतर जीवन के लिए अभीप्सा करता हूँ लेकिन मुझे हमेशा माथे के बीच के भाग में भार-सा अनुभव होता है। मुझे क्या करना चाहिये?

अपने ऊपर अधिक भार न डालो।

चैत्य पुरुष कैसे खुलता है? आधार में चैत्य और प्राणिक सत्ताओं को कैसे पहचाना जाये?

अभीप्सा की शक्ति और माँ की कृपा से।

[१] सम्भवतः माताजी ने ये उत्तर लिखवाये थे इसलिए इनमें बार-बार माँ शब्द आता है।

चैत्य : तुम्हारी सत्य सत्ता, वह सत्ता जो तुम्हारे हृदय में है, जो माँ की अपनी चेतना की एक चिनगारी है।

प्राण : वह भाग जिससे कामनाएँ और भूख और गतिशील क्रियाओं का आरम्भ होता है, जिसका भौतिक आधार नाभि के चारों ओर होता है।

मेरे परिवार में इतने लोग हैं, स्वयं मैं, मेरी पत्नी, दो बेटे और एक बेटी। मेरी यहाँ आकर रहने की इच्छा है, लेकिन मेरी पत्नी को यह स्वीकार नहीं है। मुझे क्या करना चाहिये?

अनासक्ति।

मैं अपने दैनन्दिन कामों में क्या वृत्ति अपनाऊँ? मैं अपने परिवार के सदस्यों, नातेदारों और मित्रों के साथ कैसे व्यवहार करूँ?

अनासक्ति।

मैं अभी कौन-सी पुस्तकें पढ़ूँ?

श्रीअरविन्द की पुस्तकें।

माताजी की ओर कैसे खुला जाये? निम्नलिखित उपाय हैं :
(१) हमेशा या समय-समय पर 'आपको' याद करना—

अच्छा है।

(२) 'आपका' नाम जपना—

सहायक है।

(३) ध्यान की सहायता से—

अगर ध्यान करने की आदत न हो तो ज़्यादा कठिन है।

(४) उन लोगों के साथ आपके बारे में बातचीत करके जो 'आपका' मान करते और 'आपसे' प्रेम करते हैं—

ख़तरनाक है, क्योंकि बातचीत करते समय कुछ ऊटपटाँग या कम-से-कम बेकार चीज़ें कही जा सकती हैं।

(५) 'आपकी' किताबें पढ़ कर—

अच्छा है।

(६) 'आपके' बारे में विचार करने में समय लगा कर—

बहुत अच्छा।

(७) सच्ची-निष्कपट प्रार्थनाओं से—

अच्छा है।

*

हमारी मानव चेतना में ऐसी खिड़कियाँ हैं जो 'अनन्त' में खुलती हैं, लेकिन साधारणतः मनुष्य उन्हें सावधानी से बन्द किये रहते हैं। उन्हें पूरी तरह खोलना चाहिये और 'अनन्त' को मुक्त रूप से अपने अन्दर आने देना चाहिये ताकि वे हमारा रूपान्तर कर सकें।

खिड़कियाँ खोलने के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं :

१) तीव्र अभीप्सा।

२) अहंकार का उत्तरोत्तर विलय।

जो सच्चाई और निष्कपटता से काम में लगते हैं उन्हें भगवान् की सहायता का आश्वासन दिया जाता है।

*

'भगवान्' जो हम सबके अन्दर और सभी चीज़ों में हैं उन्हें पाने का अच्छे-से-अच्छा तरीक़ा क्या है?

अभीप्सा।

नीरवता।

सौर चक्र के क्षेत्र में एकाग्रता।

ज़रूरत हो तो भगवान् से प्रार्थना :

मैं 'तुम्हारा' हूँ। मैं 'तुम्हें' जानना चाहता हूँ ताकि मैं जो कुछ भी करूँ वह उसके सिवा कुछ न हो जो तुम मुझसे करवाना चाहते हो।

*

सिर्फ़ उसी चीज़ को प्रोत्साहित करो जो तेज़ी से 'प्रभु' की ओर ले जाती हो और भागवत प्रयोजन को पूरा करती हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ४१-४५

श्रीमाँ के प्रति उद्घाटन और पूर्णयोग

मैं यह नहीं समझ पा रहा कि क्या मैं योग कर रहा हूँ? क्या यह कहा जा सकता है कि मैं पूर्णयोग कर रहा हूँ?

वह प्रत्येक व्यक्ति जो श्रीमाँ की ओर मुड़ा हुआ है, मेरा योग कर रहा है। यह मानना बड़ी भूल है कि तुम पूर्णयोग "कर" रहे हो, यानी यह मानना कि तुम स्वयं अपने प्रयास के द्वारा योग के सभी पहलुओं को क्रियान्वित और संसिद्ध कर रहे हो। कोई मानव सत्ता यह नहीं कर सकती। तुम्हें करना यह चाहिये कि स्वयं को माँ के हाथों में सौंप दो और उनकी सेवा, भक्ति, अभीप्सा के द्वारा अपने-आपको उनकी ओर खोलो; तब अपने प्रकाश और शक्ति द्वारा माँ तुम्हारे अन्दर कार्य करेंगी ताकि साधना की जा सके। महान् पूर्ण योगी या अतिमानसिक सत्ता बनने की महत्त्वाकांक्षा रखना और पग-पग पर अपने-आपसे यह पूछना, 'मैं उसकी ओर कितना बढ़ चुका हूँ'—बड़ी भूल है। उचित मनोभाव है—स्वयं को माँ की भक्ति में डुबो दो और वही चाहो जो माँ चाहती हैं कि तुम बनो। बाक़ी सब माँ पर निर्भर करता है कि वे तुम्हारे लिए क्या निश्चय करती हैं और तुम्हारे अन्दर कैसे क्रिया करती हैं।

*

तुम्हारे लिए 'सत्य' यह है कि भगवान् को अपने अन्दर अनुभव करो, श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित होओ और तब तक भगवान् के लिए कार्य करते रहो जब तक कि तुम अपनी सभी क्रियाओं में माँ के प्रति सचेतन न बन जाओ। यहाँ केवल भौतिक उपस्थिति पर्याप्त नहीं होती; तुम्हारे हृदय में भागवत उपस्थिति की चेतना होनी चाहिये और तुम्हारी क्रियाओं में होना

चाहिये दिव्य पथ-प्रदर्शन। अगर चैत्य चेतना पूरी तरह जाग्रत् हो तो वह आसानी से, तेज़ी से, गहराई में इसका अनुभव कर सकती है; एक बार चैत्य चेतना इसका अनुभव कर ले तो यह मन तथा प्राण में भी आसानी से फैल सकता है।

*

तुम्हारे पत्र के उत्तर में श्रीअरविन्द[१] का कहना है कि तुम अपने हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगा सकते और उन्हें पुकार सकते हो—उनका स्मरण करो और अपना सारा जीवन, समस्त विचार और सभी क्रियाओं को उन्हें समर्पित कर दो। अगर तुम चाहो तो तुम उनके नाम का जप कर सकते हो। अपनी सत्ता को शुद्ध करने और अपनी प्रकृति को बदलने के लिए तुम उनका आह्वान कर सकते हो।

या फिर तुम एकाग्रचित्त होकर, ऊपर से पहले श्रीमाँ की अचञ्चलता तथा शान्ति, फिर उनकी शक्ति, प्रकाश तथा उनके आनन्द को नीचे उतरने के लिए टेर लगा सकते हो। ये चीज़ें मस्तक के ऊपर हमेशा रहती हैं —लेकिन मानव-मन के लिए ये अतिचेतना में होती हैं—तुम अपनी अभीप्सा तथा एकाग्रचित्तता के द्वारा उनके प्रति सचेत हो सकते हो, तब तुम्हारा शरीररूपी आधार उनके प्रति खुल सकता है ताकि ये चीज़ें उतर कर तुम्हारे मन, प्राण तथा शरीर में प्रवेश कर सकें।

*

स्वयं को उद्घाटित रखो, हमेशा श्रीमाँ का स्मरण करते रहो—अपने काम में उनकी सहायता तथा उनके पथ-प्रदर्शन के लिए टेर लगाओ। तुम्हें ऐसी अवस्था अपना लेनी चाहिये जिसमें न केवल तुम्हारे अन्दर हमेशा अचञ्चलता बनी रहे, बल्कि चाहे तुम काम में लगे हो, चाहे आराम कर रहे हो, चाहे ध्यान में बैठे हो—सारे समय तुम्हारे अन्दर साधना चलती रहे।

*

आरम्भ से ही उद्घाटन हमेशा पूर्ण नहीं होता—सत्ता का एक हिस्सा खुलता है, चेतना के दूसरे भाग फिर भी बन्द या आधे बन्द रहते हैं—व्यक्ति को तब तक अभीप्सा करते रहना चाहिये जब तक कि सब न खुल जायें। उत्तम तथा सबसे अधिक शक्तिशाली साधक में भी पूर्ण उद्घाटन समय

[१] श्रीअरविन्द द्वारा अपने सचिव को लिखा पत्र जिसे सचिव ने प्रश्नकर्ता को भेजा।

लेता है; और न ही ऐसा कोई भी है जो बिना संघर्ष के सब कुछ छोड़ पाया हो। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं कि अगर तुम पुकारोगे तो तुम्हारी सुनवायी नहीं होगी—श्रीमाँ मानव प्रकृति की सभी कठिनाइयों को जानती हैं और वे पथ के अन्त तक तुम्हारी सहायता करेंगी। हमेशा डटे रहो, हमेशा पुकारते रहो और तब हर कठिनाई में एक प्रगति होगी।

मैं ध्यान ही नहीं कर पाता, क्योंकि जब मैं बैठता हूँ तो कई विचार मेरे अन्दर घुस आते हैं। मुझे कौन-सा पथ अपनाना चाहिये, ताकि मैं प्रगति कर सकूँ और श्रीमाँ के लिए आसान बना दूँ कि वे मेरे अन्दर अपना कार्य कर सकें?

अगर तुम ध्यान न कर पाओ तो प्रार्थना करो। जो कुछ तुम करो उसे श्रीमाँ को समर्पित कर दो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हारी क्रियाओं और तुम्हारे स्वभाव को अपने नियन्त्रण में ले लें।

श्रीमाँ से प्रेम करो, उनकी आराधना करो। आवश्यकता है पूरी तरह उद्घाटित होने की ताकि तुम श्रीमाँ के प्रति सचेतन बन सको। प्रेम और आराधना उद्घाटन ले आयेंगे। लेकिन, अगर समय लगे तो उदासी में न डूब जाओ, हताशा और विद्रोह को पास न फटकने दो—क्योंकि ये चीज़ें उद्घाटन के रास्ते आड़े आती हैं।

*

सारी बात है स्वयं को श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित रखने की। निर्णायक अनुभूतियों को पाने के लिए स्वभाव को तैयार करने में हमेशा समय लगता है और हताशा या तात्कालिक परिणाम पाने के लिए अधीरता के बिना एक सतत आत्मोद्घाटन होता ही रहना चाहिये।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५१-५९

सतत स्मरण के द्वारा ही सत्ता पूर्ण उद्घाटन के लिए तैयार होती है। हृदय के उद्घाटन से श्रीमाँ की उपस्थिति का अनुभव होना शुरू होता है और ऊपर की उनकी 'शक्ति' के प्रति उद्घाटित होने पर उच्चतर चेतना शरीर में उतर आती है और व्यक्ति की समस्त प्रकृति को बदलने के लिए वहाँ कार्य करती है। CWSA खण्ड ३२, पृ. १६७

अगर मैं एकाग्र नहीं हो सकता या ध्यान नहीं कर सकता तो मैं बस यही कल्पना करता हूँ कि शाश्वत रूप से मैं माँ की गोद में ही हूँ और जब वे मुझे बाहर भेजती हैं, तभी बाहर निकलता हूँ।

यह सर्वोत्तम सम्भव एकाग्रता है।

*

यही सच्ची मनोवृत्ति है कि सब कुछ माँ पर छोड़ दो, उन्हीं पर पूरा-पूरा भरोसा रखो और लक्ष्य तक पहुँचने के लिए पथ पर उन्हीं का हाथ थामे रहो।

*

आपने मुझसे पूछा, "अगर तुम चैत्य की क्रिया के बारे में सचेतन न होओ तो उसके प्रति समर्पण कैसे कर सकते हो?" मैं उसी तरह करता हूँ जिस तरह मैं ऊपर की 'शक्ति' के प्रति समर्पण करता हूँ। मैं बस यही कल्पना करता हूँ कि ऊपर एक 'शक्ति' है या फिर हृदय-केन्द्र में एक चैत्य सत्ता है। इस तरह की कल्पना करते हुए मैं अपने-आपको उसको समर्पित कर देता हूँ।

तब यह संकल्प का समर्पण है। लेकिन समर्पण श्रीमाँ के प्रति होना चाहिये —'शक्ति' के प्रति भी नहीं, बल्कि स्वयं श्रीमाँ के प्रति।

लेकिन मुझे यह नहीं मालूम कि क्या वर्तमान में चैत्य के प्रति समर्पण करना आवश्यक है। मेरी सत्ता 'शक्ति' तथा चैत्य को एक साथ समर्पण करने में अभी तक समर्थ नहीं है।

इस तरह की जटिलता की कोई ज़रूरत नहीं है। अगर चैत्य अभिव्यक्त हो जाये तो वह स्वयं अपने प्रति नहीं, बल्कि श्रीमाँ के प्रति समर्पण करने को कहेगा।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १४७ **श्रीअरविन्द**

अन्तरात्मा नीरवता में ही
अपने-आपको सबसे अच्छी तरह प्रकट करती है। —श्रीमाँ

गुरु तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में श्रीमाँ

मानव आत्मा तथा प्रकृति को मानसिक नियमों की एक ही लाठी से नहीं हाँका जा सकता। समान ढाँचे में उन्हें नहीं ढाला जा सकता। अगर ऐसा होता तो किसी गुरु की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। सैण्डोज़ की कसरतों के समान हर एक यौगिक नियमों का अपना ही 'चार्ट' बना लेता और तब तक उस पर लगा रहता जब तक कि पूर्ण सिद्ध न बन जाता!

CWSA खण्ड ३२, पृ. ३४९ **श्रीअरविन्द**

मैं तुम सबमें द्वार खोलने के लिए पूरा ध्यान देती हूँ, ताकि अगर तुम्हारे अन्दर एकाग्रता का ज़रा-सा भी स्पन्दन हो, तो तुम्हें ऐसे बन्द दरवाज़े के सामने बहुत-बहुत देर तक न ठहरना पड़े जो हिलता तक नहीं, जिसकी चाबी तुम्हारे पास नहीं है और जिसे तुम खोलना नहीं जानते।

दरवाज़ा खुला हुआ है, तुम्हें उस दिशा में देखना-भर होगा। तुम्हें उसकी ओर पीठ नहीं फेरनी चाहिये।

*

मैं किसी का गुरु होने के लिए उत्सुक नहीं हूँ। मेरे लिए सबकी माँ होने का और उन्हें चुपचाप प्रेम की शक्ति द्वारा आगे ले जाने का अनुभव ज़्यादा सहज और स्वाभाविक है।

*

आपके साथ मेरे सम्बन्ध के बारे में आप क्या सोचती हैं?

क्या तुम विश्व-जननी के पुत्र नहीं हो?

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ८५-८६

जब मैं कहती हूँ कि मैंने किसी को दीक्षा दी है, तो उसका मतलब होता है कि मैंने इस व्यक्ति के आगे अपने-आपको **बिना बोले** प्रकट किया है, और वह यह देखने, अनुभव करने और जानने के योग्य है कि मैं 'कौन' हूँ।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ८७

शारीरिक सामीप्य तथा आन्तरिक सामीप्य

मैं तुमसे मिलती हूँ या नहीं, इससे सहायता में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वह हमेशा रहेगी।

*

तुम्हें अपने मन से इन दो मिथ्यात्वों को दूर कर देना चाहिये।

१) तुम्हें मुझसे जो मिलता है उसका दूसरों के पास जो है या नहीं है उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध केवल तुम्हारे ऊपर निर्भर है; मैं तुम्हें तुम्हारी सच्ची आवश्यकता और योग्यता के अनुसार देती हूँ। यहाँ भी, तुम मेरे साथ अकेले ही थे; अगर दूसरे न भी होते तो भी तुम्हें इससे ज़्यादा न मिलता।

२) यह सोचना बहुत बड़ी भूल है कि प्रगति के लिए शारीरिक सामीप्य एकमात्र अनिवार्य चीज़ है। अगर तुम आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित न कर सको तो यह तुम्हारे लिए कुछ भी न करेगा, क्योंकि उसके बिना तुम चाहे दिन-रात मेरे साथ बने रहो, फिर भी तुम सचमुच कभी मेरे पास नहीं होगे। केवल आन्तरिक उद्‌घाटन और सम्पर्क के द्वारा ही तुम मेरी उपस्थिति का अनुभव कर सकते हो।

*

श्रीमाँ के निवृत्त[१] हो जाने से हमारे लिए एक बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गयी। माताजी और बहुत-से आश्रमवासियों के बीच पहले से ही जो भौतिक दूरी थी क्या वह अब बढ़ने वाली है? और क्या उनकी सतत निगरानी के बिना आश्रम के काम-धाम चल सकते हैं? क्या उनके इस तरह से निवृत्त होने के समय आश्रमवासियों के हितों को नुकसान न पहुँचेगा? क्या वे पहले की तरह अब भी हमारी देखभाल करेंगी?

तुम्हें यह न भूलना चाहिये कि हर एक को जीवन में वही मिलता है जो उसके अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति हो। 'कृपा' और आशीर्वाद हमेशा

[१] २० मार्च १९६२ से श्रीमाँ ने अपने कमरे से नीचे आना बन्द कर दिया था और उनसे मिलने-जुलने की पहले जैसी छूट न रही थी; कुछ समय बाद उन्होंने लोगों से मिलना शुरू किया किन्तु समयादेश देकर।

तुम्हारे साथ हैं। जो मेरी शक्ति पर निर्भर हैं, सदा की तरह उनकी देखभाल मैंने एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ी।

२२ मई १९६२

काम करो—मेरी प्रेरणा और मेरा पथ-प्रदर्शन हमेशा तुम्हारे साथ होंगे; और जब ज़रूरी होगा मैं तुमसे भौतिक रूप से भी मिलूँगी। लेकिन मैं इस आवश्यकता को अधिकाधिक कम करने के लिए काम कर रही हूँ। क्योंकि कार्य की पूर्णता के लिए आन्तरिक पथ-प्रदर्शन को पाने के योग्य होना अनिवार्य है।

२१ दिसम्बर १९६४

अब जब तुम यहाँ हो तो बस यही करो कि अपने भूतकाल को भूल जाओ और अपने यहाँ के काम पर एकाग्र होओ। यह सच है कि अभी के लिए मैं तुमसे नियमित रूप से नहीं मिल सकती, लेकिन तुम्हें **आन्तरिक** सम्पर्क प्राप्त करना सीखना चाहिये (मेरे निवृत्त होने के मुख्य कारणों में से एक यह है) और तब तुम जानोगे कि मैं हमेशा तुम्हें राह दिखाने और तुम्हारी मदद करने के लिए तुम्हारे साथ हूँ और तुम अपनी साधना करने के लिए यहाँ से अच्छी परिस्थितियाँ कहीं नहीं पा सकते।

*

यह कहना ज़्यादा ही होगा कि अमुक विचार, अमुक भावनाएँ और अमुक कार्य लोगों को मुझसे दूर ले जाते हैं या समस्त भौतिक सामीप्य के होते हुए भी मेरे और व्यक्ति के बीच अलगाव पैदा कर देते हैं।

१ मई १९६८

हमें लगता है कि हम आपकी उपस्थिति से दूर हो गये हैं; मेरी माँ, यह अलगाव केवल एक भ्रान्ति है न?

कोई वास्तविक अलगाव है ही नहीं, लेकिन अगर चेतना कोई ग़लत वृत्ति अपनाये, तो वह अपने-आपको ऐसी स्थिति में रख देती है जिसमें अलगाव का संवेदन या भाव होता है।

क्या आपके साथ भौतिक सम्पर्क अनिवार्य है?

नहीं, यह भौतिक सम्पर्क अनिवार्य नहीं है। यह निश्चित है कि जिनका मनोभाव ठीक होता है, उनके शरीर को भौतिक सम्पर्क रूपान्तर की गति का अनुसरण करने में सहायता देता है, लेकिन शरीर कदाचित् ही ऐसी अवस्था में होता है कि उससे लाभ उठा सके। साधारणतः जन्मदिनों पर वह ज़्यादा ग्रहणशील होता है।

सितम्बर १९७१

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ८०-८२

हे प्रभो, क्योंकि मैं सिर्फ़ तुम्हारे साथ प्रेम करती हूँ, अतः मैं सबके अन्दर और हर एक के अन्दर तुमसे ही प्रेम करती हूँ; और उनमें स्थित तुमसे प्रेम करने के द्वारा मैं अन्ततः उन्हें तुम्हारे बारे में ज़रा सचेतन बना दूँगी।

उनके लिए, असली चीज़ है यह जानना कि बिना किसी पसन्द के, बिना किसी रुकावट के अपने साथ कैसे प्रेम करने दें। लेकिन इतना ही नहीं कि वे अपने तरीक़े को छोड़ कर किसी और तरीक़े से प्रेम नहीं चाहते, वे अपने-आपको प्रेम के प्रति तब तक नहीं खोलना चाहते जब तक वह उनके चुने हुए माध्यम के द्वारा न आये... और जो चीज़ कुछ घण्टों में, कुछ महीनों में, कुछ वर्षों में की जा सकती है वह चरितार्थ होने के लिए शताब्दियाँ ले लेती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ८५

अगर कुछ गड़बड़ हो जाये तो तुरन्त मेरे नाम का जाप करो, —"माँ" "माँ"। सचमुच यह ध्यान की तरह होता है। जब कभी तुम 'प्रभु' का नाम दोहराओ, तुम्हें हमेशा यह अनुभव करना चाहिये कि प्रभु तुम्हारे अन्दर उपस्थित हैं—वहाँ तुम माधुर्य और शान्ति की अनुभूति पा सकते हो।

श्रीमाँ

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

फ़रवरी

१. प्रत्येक चीज़ के लिए—आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिए, बीमारी दूर करने के लिए—प्रत्येक चीज़ के लिए मनुष्य को शान्त बने रहना चाहिये।

२. सबसे पहले हमें सचेतन होना होगा, फिर संयम स्थापित करना होगा और लगातार संयम के बने रहने पर हम अपने स्वभाव को परिवर्तित करते हैं।

३. तुम्हारी इच्छा स्वतन्त्र है, वह जान-बूझकर स्वतन्त्र छोड़ दी गयी है और तुम्हें चुनाव करना है। सच पूछो तो तुम ही यह निर्णय करते हो कि ज्योति की खोज करनी है या नहीं, सत्य का सेवक होना है या नहीं—यह तुम ही करते हो।

४. तुम जितने अधिक शान्त रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीज़ को अपना सन्तुलन न बिगाड़ने दो, तब तुम हर प्रकार के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे।

५. मैं तुम्हारी सहायता और रक्षा के लिए सदैव तुम्हारे साथ हूँ। व्यर्थ की कल्पनाओं को अपने ऊपर शासन मत करने दो। शान्ति वहाँ है, तुम्हारे हृदय की गहराई में, उसी पर एकाग्र होओ, और वह तुम्हें प्राप्त होगी।

६. आन्तरिक विश्राम को विकसित करो, उसे ऐसा विश्राम बनना चाहिये जो महान् से महान् गतिविधियों के बीच भी हमेशा उपस्थित रहे और इतना स्थिर हो कि किसी भी चीज़ में उसे डिगाने की शक्ति न हो—और तब तुम परम अभिव्यक्ति के पूर्ण यन्त्र बन जाओगे।

७. शान्ति एक ऐसी निश्चल-नीरवता है जो ऐसी चीज़ में गभीर रूप से उतर जाती है जो बहुत सकारात्मक होती है, जो प्रायः तरंगहीन शान्त 'आनन्द' बन जाती है। —श्रीअरविन्द

८. मुँह में मिठाई की अपेक्षा अच्छा कार्य हृदय के लिए ज़्यादा मीठा

होता है। जो दिन अच्छा काम किये बिना बीतता है वह बिना आत्मा का दिन होता है।

९. महान् अज्ञान के द्वारा ही मनुष्य अन्धकार तथा विनाश की शक्तियों के सुझावों को उत्तर देता है। भागवत अनन्त अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता के सच्चे भाव द्वारा मनुष्य ऐसे ख़तरे से बच जायेगा।

१०. तुम्हारे अन्दर काफ़ी अभीप्सा और काफ़ी तीव्र प्रार्थना होनी चाहिये। मानव प्रकृति को यह देन मिली है। भागवत कृपा ने मानव प्रकृति को जो अद्‌भुत उपहार दिये हैं उनमें ये भी हैं, लेकिन मनुष्य इनका उपयोग करना नहीं जानता।

११. कोई व्यक्ति केवल तभी दुःखी होता है जब वह उदार नहीं होता— यदि किसी के अन्दर ऐसा उदार स्वभाव हो जो बिना हिसाब लगाये अपने-आपको दे देता हो, तो वह कभी दुःखी नहीं होता।

१२. जब तुम सचेतन हो और सहयोग दो और वास्तव में जो करना चाहिये उसे सचेतन रूप से करते चलो तो प्रगति बहुत अधिक तेज़ी से होती है।

१३. मैं प्रस्ताव करती हूँ कि हम केवल वही करें जो ठीक और उचित हो, भविष्य के बारे में बहुत अधिक न सोचें, उसे भागवत कृपा की निगरानी में रहने दें।

१४. सच्चा सुख जीवन की बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहता। तुम अपनी चैत्य सत्ता को खोज कर और उसके साथ एक होकर ही सच्चा सुख पा सकते और उसे सतत बनाये रख सकते हो।

१५. अपनी दुर्बलताओं के प्रति कभी आसक्ति के साथ तुम्हें आँखें न मूँदनी चाहियें और जब कभी कोई भूल करो, चाहे वह छोटी-सी ही क्यों न हो, तो अपने-आपको पकड़ो।

१६. तुम्हारा लक्ष्य ऊँचा और विस्तृत, उदार और निष्काम होना चाहिये। इससे तुम्हारा जीवन तुम्हारे और दूसरों के लिए भी मूल्यवान् बन जायेगा।

१७. अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ। अपने-आपको भूल जाओ... और परम प्रभु तुम्हारी प्रगति की ज़िम्मेदारी ले लेंगे।

१८. जब तुम प्रगति करना चाहते हो तो जिस कठिनाई को जीतना चाहते

हो वह तुम्हारी चेतना में महत्त्व और तीव्रता में दसगुना बढ़ जाती है। तुम्हें केवल दृढ़ बने रहना चाहिये। बस, और वह चली जायेगी।

१९. यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम अपने स्वभाव की भूलों और त्रुटियों के बारे में सचेतन हो गये हो। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो यह हमेशा सम्भव होता है कि तुम उनसे बाहर निकल कर अपनी प्रकृति को बदल दो।

२०. मैं तुमसे कहती हूँ, दुःख-दर्द में मज़ा न लो और वह तुम्हें पूरी तरह से छोड़ देगा। दुःख-दर्द प्रगति के लिए अनिवार्य बिलकुल नहीं है। सबसे बड़ी प्रगति स्थिर और प्रसन्नचित्त समानता द्वारा की जाती है।

२१. थकान प्रगति के लिए संकल्प-शक्ति का अभाव है। जब तुम्हें थकान या श्रान्ति का अनुभव हो तो उसका मतलब होता है, प्रगति के लिए इच्छा का अभाव। तुम्हारे अन्दर आग हमेशा जलती रहती है।

२२. सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्र का, तुम्हारी जीवन-विधि का समर्पण ताकि वह बदल सके। तुम्हारी जो एकदम अपनी प्रकृति है यदि तुम उसका समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी।

२३. एक अत्यन्त धनी व्यक्ति भी महालक्ष्मी की दृष्टि में भयानक रूप से दरिद्र हो सकता है। और एक बहुत दरिद्र आदमी बहुत धनी हो सकता है यदि उसका हृदय उदार हो।

२४. शुभचिन्तक बनो और तुम सब कष्टों से मुक्ति पा लोगे, सदा सन्तुष्ट-प्रसन्न रहो और तुम अपनी शान्त प्रसन्नता को चारों ओर फैला दोगे।

२५. भगवान् से प्रेम करने और धरती पर 'उनकी' सेवा करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है अथक, स्पष्टदर्शी और व्यापक शुभ-चिन्ता जो सभी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो।

२६. आगे बढ़ो, ज़्यादा अच्छे भविष्य की ओर, कल की उपलब्धियों की ओर आगे बढ़ो।

२७. धरती पर एक नया प्रकाश आयेगा, सत्य और सामञ्जस्य का प्रकाश।

२८. मैं न भक्त हूँ, न ज्ञानी और न प्रभु के लिए कार्यकर्ता हूँ; तब मैं क्या हूँ? अपने स्वामी के हाथों का उपकरण हूँ, दिव्य गोपाल द्वारा बजायी गयी बाँसुरी हूँ, प्रभु की साँस द्वारा उड़ाया गया वृक्ष का पत्ता हूँ।

भौतिक सत्ता का रूपान्तर

जब मैंने अन्तरात्मा के प्रकाश और भागवत पुकार के प्रति सच्चे बने रहने की बात कही थी तो मैं भूतकालीन वस्तु की ओर या तुम्हारी ओर से हुई किसी त्रुटि के प्रति संकेत नहीं कर रहा था। मैं केवल सब संकटों और आक्रमणों से जिस अत्यावश्यक वस्तु पर दृढ़तापूर्वक बल दे रहा था, वह है किन्हीं सुझावों, आवेशों, प्रलोभनों पर कान देने से इन्कार करना और इन सब वस्तुओं के विरोध में सत्य की पुकार एवं प्रकाश के अलंघ्य संकेत को प्रस्तुत करना। सब शंका और अवसाद के समय हमें यह कहना चाहिये, "मैं भगवान् का हूँ, मैं असफल नहीं हो सकता", मलिनता और अयोग्यता के सभी सुझावों को यह जवाब देना चाहिये, "मैं भगवान् के द्वारा चुना गया अमरता का पुत्र हूँ, मुझे केवल अपने और भगवान् के प्रति ही सच्चा रहना है—विजय निश्चित है; यदि मैं गिरा तो भी फिर उठ खड़ा होऊँगा," यहाँ से चले जाने के और किसी क्षुद्रतर आदेश की सेवा के लिए उठने वाले आवेगों को हमें यह उत्तर देना चाहिये, "यही वह सबसे महान् वस्तु है, यही वह सत्य है जो एकमात्र मेरे भीतर स्थित अन्तरात्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; मैं सब कसौटियों और कष्टों को इस दिव्य यात्रा के ठीक अन्त तक झेलूँगा।" प्रकाश और पुकार के प्रति सच्चे रहने से मेरा यही मतलब है।

*

ये ऐसी वस्तुएँ हैं जो लगभग अनिवार्य रूप से कुछ न कुछ मात्रा में किसी विशेष संकट की घड़ी में आती ही हैं जिनमें से होकर प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को गुज़रना ही होता है और जो साधारणतया लम्बे एवं दूभर समय तक रहती हैं किन्तु वे निर्णायक और निश्चयात्मक हों ही यह ज़रा भी आवश्यक नहीं। साधारणतया यदि व्यक्ति धैर्यपूर्वक लगा रहे तो यह उषा से पहले रात्रि का अधिकतम अन्धकारमय ऐसा काल होता है जो प्रत्येक या लगभग प्रत्येक आध्यात्मिक अभीप्सु के सामने आता ही है। यह उस छलाँग के कारण आता है जो व्यक्ति को निरी भौतिक चेतना में किसी सच्चे मानसिक प्रकाश के या जीवन में किसी प्राणिक हर्ष के सहारे के

बिना लगानी होती है, क्योंकि ये प्रकाश और हर्ष परदे के पीछे चले जाते हैं, यद्यपि वे, जैसा कि प्रतीत होता है, स्थायी रूप से लुप्त नहीं हो जाते। यह एक ऐसा काल है जब शंका, निषेध, शुष्कता, मनहूसपन और इसी प्रकार की अन्य चीज़ें प्रबल शक्ति के साथ उभर आती हैं और कुछ समय के लिए प्रायः पूरी तरह आधिपत्य जमा लेती हैं। इस अवस्था को सफलतापूर्वक पार कर चुकने के बाद ही सच्चा प्रकाश आना शुरू होता है, वह प्रकाश जो मन का नहीं बल्कि आत्मा का होता है। आध्यात्मिक प्रकाश, निःसन्देह कुछ लोगों को कुछ मात्रा में और बहुत थोड़े लोगों को काफ़ी अधिक मात्रा में प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही प्राप्त हो जाता है, यद्यपि ऐसा सबके साथ नहीं होता, क्योंकि कुछ लोगों को तब तक प्रतीक्षा करनी होती है जब तक कि वे मन, प्राण और भौतिक चेतना के बाधक तत्त्व को साफ़ नहीं कर पाते, और तब तक वे किसी स्पर्श को केवल जब-तब ही प्राप्त करते हैं। किन्तु अपने सर्वोत्तम रूप में भी यह प्रारम्भिक आध्यात्मिक प्रकाश तब तक कभी भी पूर्ण नहीं होता जब तक भौतिक चेतना के अन्धकार का सामना करके उसे जीत न लिया जाये। व्यक्ति अपने दोष के कारण ही इस अवस्था में नहीं गिरता, यह अवस्था तब भी आ सकती है जब व्यक्ति अधिक-से-अधिक अच्छे ढंग से आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहा होता है। वस्तुतः यह प्रकृति की किसी मूलगामी अक्षमता को सूचित नहीं करता किन्तु निश्चय ही यह कठोर अग्नि-परीक्षा है और व्यक्ति को इसमें से गुज़रने के लिए बहुत दृढ़तापूर्वक डटे रहना होगा। इन वस्तुओं की व्याख्या करना कठिन है क्योंकि सामान्य मानव बुद्धि के लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को समझना या स्वीकार करना कठिन होता है।

*

हतोत्साह होने की कोई बात नहीं। तथ्य यह है कि इतनी देर तक मानसिक और प्राणिक भूमिका में निवास कर चुकने के बाद तुम भौतिक चेतना के विषय में सचेतन हुए हो, और भौतिक चेतना हर एक में ऐसी ही होती है। वह जड़, रूढ़िबद्ध होती है और हिलना तथा बदलना नहीं चाहती—वह अपनी आदतों से (लोग जिसे अपना स्थिर-स्वभाव कहते हैं उससे) चिपटी रहती है या उसकी आदतें (अभ्यासगत क्रियाएँ) उससे

चिपटी रहती हैं और निरन्तर यान्त्रिक ढंग से चलती हुई घड़ी की तरह घूमती रहती हैं। जब तुम अपना प्राण थोड़ा-बहुत स्वच्छ कर चुकते हो तो वस्तुएँ नीचे चली जाती हैं और वहाँ चिपट जाती हैं। तुम अवलोकन करते हो और यदि तुम आत्म-सचेतन हो चुके हो तो तुम प्रायः दबाव भी डालते हो, किन्तु स्थूल सत्ता बहुत ही धीमा प्रत्युत्तर देती है, पहले-पहल तो यह कदाचित् हिलती भी नहीं लगती। इसका इलाज है, स्थिर और अपरिवर्तनीय अभीप्सा, धीरतापूर्वक कार्य, और भौतिक सत्ता में स्थित चैत्य जो इन अन्धकारमय भागों में प्रकाश और शक्ति को पुकार कर नीचे ले आये। प्रकाश हमें वहाँ की वस्तुओं के विषय में सचेतन बनाता है; शक्ति को उनका तब तक अनुसरण करना और उन पर कार्य करना होता है जब तक वे परिवर्तित या विलीन न हो जायें।

'श्रीअरविन्द के पत्र', भाग ४, पृ. ३८५-८७

प्रश्न : रूपान्तर बहुत उच्च कोटि की अभीप्सा, समर्पण और ग्रहणशीलता की माँग करता है, है न?

उत्तर : रूपान्तर सम्पूर्ण और समग्र समर्पण की माँग करता है। परन्तु क्या हर एक सच्चे साधक की यही अभीप्सा नहीं है?

सम्पूर्ण का अर्थ है, ऊपर से नीचे तक सत्ता की सभी अवस्थाओं में, अत्यन्त जड़ से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म तक।

समग्र का अर्थ है, चारों ओर फैले, सभी विभिन्न और प्रायः विरोधी भागों में जिनसे बाहरी सत्ता (भौतिक, प्राणिक और मानसिक) बनती है।

४ दिसम्बर १९६७ श्रीमाँ

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प.ले. का अर्थ है, पत्र-लेखक—सं.

क्रीड़ांगण में काफ़ी शोर हुआ करता था। माताजी की ओर से सूचना दी गयी कि सब लोग चुपचाप रहें। प.ले. खेल-कूद में तो भाग न लिया करता था परन्तु खेल-कूद के बाद माताजी सबको मूँगफली या मिठाई दिया करती थीं, उसकी व्यवस्था इसके हाथ में थी। फाटक के पास घुसते ही इसके बैठने का स्थान था और लोग उसके पास अपनी-अपनी समस्या लेकर आ जाते थे। उसे लगा कि इस तरह वह क्रीड़ांगण की शान्ति में बाधक होगा। उसने प्रस्ताव किया कि वह क्रीड़ांगण में बैठना ही बन्द कर देगा। माताजी का उत्तर था:

और अगर मुझे तुम्हारी ज़रूरत पड़े तो? सबसे अच्छी बात यह है कि तुम यह नियम बना लो कि तुम वितरण के सारे समय न तो किसी की सुनोगे, न कुछ कहोगे। वितरण समाप्त होते ही सुनना और उत्तर देना शुरू हो सकता है।

९ सितम्बर १९५४

माताजी का समय बचाने की दृष्टि से प.ले. जान-बूझकर उनसे मिलने से कतराता था। माताजी ने लिखा:

तुमसे एक बात और कह दूँ। तुम्हें मुझसे मिलने से कतराना नहीं चाहिये क्योंकि यह तुम्हारी सत्ता के उन भागों को समर्थन देता है जो मेरे प्रभाव के प्रति खुलने के लिए कुछ अनिच्छुक हैं।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

मेरे साथ सम्बन्ध में बच्चे की तरह सरल और सहज होने की कोशिश करो—यह तुम्हें बहुत-सी कठिनाइयों से बचा देगा।

२५ अक्तूबर १९५४

प.ले. को एक वाक्य का अनुवाद करना था। उसने माताजी को लिखा :

आपने कहा है, "और सब प्रभावों को छोड़ कर हम पूरी तरह आपके प्रभाव में रहना चाहेंगे।" ('प्रार्थना और ध्यान' से) मैंने इसे हिन्दी में यूँ कहा है, "हम आपके रंग में रँग जाना चाहेंगे और किसी रंग में नहीं।" यह मुहावरेदार तो है पर ठीक है क्या?

यह सच्चा अर्थ नहीं है; हर शक्ति या सामर्थ्य का अन्य शक्तियों और सामर्थ्यों पर कुछ प्रभाव होता है और यह क्रिया पारस्परिक होती है। प्रभावों की इस सतत और व्यापक अस्तव्यस्तता से बचने के लिए एक ही रास्ता है, ऐकान्तिक रूप से भागवत चेतना पर एकाग्र होना और अपने-आपको केवल भागवत चेतना की ओर खोलना।

१९५४

आश्रमवासियों को काम देने का काम था प.ले. का। स्वभावतः इससे काफ़ी लोग असन्तुष्ट थे और तरह-तरह की बातें करते थे। प. ले. ने इस तरह की बातें लिख कर माताजी से पूछा कि क्या वे इनसे सहमत हैं?

नहीं, भगवान् जानते हैं और वे किसी बेवकूफ़ी में भाग नहीं लेते।

सारे संसार की स्थिति गड़बड़ा रही थी। आश्रम भी उसके प्रभाव से अछूता न था। प.ले. ने माताजी को लिखा, "जब प्रदर्शन अन्य सभी चीज़ों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम होता है, जब जीवन को आरामदेह बनाने के लिए हमें सभी सुविधाएँ दी जा रही हैं, जब बदले की किसी भी आशा के बिना सब कुछ दिया जा रहा है, तब फिर

भीतरी परिवर्तन के बिना लोग काम क्यों और कैसे कर सकते हैं? मुझे दुःख है कि जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, मैं ऐसी कोई चीज़ नहीं देख पाता। जीवन अधिकाधिक अस्त-व्यस्त होता जा रहा है। भगवान् निकटतर आते नहीं दीखते, हर चीज़ तितर-बितर होती जा रही है। सभी उज्ज्वल प्रतिज्ञाओं के बावजूद, भगवान् जाने, भविष्य के गर्भ में क्या है।"

यह वस्तुओं के बारे में एक निराशाजनक दृष्टि है। इससे उलटी बात भी सच है और ऊपर से दीखने वाली इस अस्त-व्यस्तता में से होकर एक नयी और ज़्यादा अच्छी व्यवस्था की रचना हो रही है, लेकिन उसे देख सकने के लिए तुम्हारे अन्दर भागवत कृपा पर श्रद्धा होनी चाहिये।

प्रसन्न हो उठो! चीज़ें इतनी ख़राब नहीं हैं जितना कि तुम सोचते हो। मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

७ अक्तूबर १९५६

प.ले. का जन्मदिन था। माताजी ने उसे प्रणाम के लिए शाम को क्रीड़ांगण में बुलाया। वह इतने लोगों के बीच में जाते हुए सकुचाता था इसलिए नहीं गया। इसके लिए रात को माताजी से करारी डाँट पड़ी। उसने यह क्षमा-पत्र लिखा, "मैं अपने कल के व्यवहार के लिए दुःखी हूँ और क्षमा चाहता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि मैंने कल जो अवसर खोया है वह खोया हुआ अवसर बन कर न रह जाये। मैं प्रार्थना करता हूँ कि यह इस तरह की आख़िरी भूल हो।

"मैं चाहता हूँ कि मैं आपका सच्चा सेवक बन सकूँ।"

मेरे प्यारे बालक,

कल रात मैं तुम्हारे साथ ज़रा "सख़्ती" से बोली थी ताकि ऐसी भूल फिर न होने पाये, लेकिन सच तो यह है कि उसके परिणाम मिटाये जा चुके हैं और मैं तुम्हें जो कुछ देना चाहती थी वह दे चुकी हूँ—उसका उचित उपयोग करना तुम्हारे हाथ में है।

मैं पहले ही तुम्हें सच्चा सेवक मानती हूँ, लेकिन मैं चाहती हूँ कि

तुम सच्चे बालक भी बन जाओ ताकि तुम उसका पूरा आनन्द ले सको।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२७ जनवरी १९५७

प.ले. ने माताजी से कहा कि वह केवल काम करते समय ही उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है, इसलिए काम ही उसकी एकमात्र साधना है।

पूर्णयोग में साधना और बाहरी जीवन में कोई फ़र्क नहीं है; दैनिक जीवन की एक-एक गतिविधि में सत्य को खोजना और क्रियान्वित करना चाहिये।

१६ मार्च १९५८

काम में कुछ कठिनाई पैदा हो रही थी। प.ले. सोचता था कि कठिनाइयाँ माताजी की कृपा से अपने-आप ठीक हो जायेंगी और निकट भविष्य में सब कुछ माताजी के अधिकार में आकर ठीक हो जायेगा इसलिए वह कठिनाइयों के बारे में शान्त रहता और माताजी को कोई सूचना न देता था। जब उसने पूछा कि क्या यह मनोभाव ठीक है या तमस् ही मुखौटा पहने हुए है?

निश्चय ही स्थिर-शान्त रहना तमस् नहीं है। वस्तुतः स्थिर शान्ति में ही ठीक चीज़ की जा सकती है। जिसे मैं स्थिर शान्ति कहती हूँ वह है किसी भी चीज़ से विक्षुब्ध हुए बिना काम करना और हर चीज़ को किसी भी चीज़ से विक्षुब्ध हुए बिना देखना।

फिर भी, अगर तुम्हें कोई चीज़ बिलकुल ग़लत मालूम होती है तो तुम हमेशा मुझे सूचित कर सकते हो—लेकिन ज़रा भी विक्षुब्ध हुए बिना —और मैं देखूँगी कि क्या किया जा सकता है।

मेरी उपस्थिति और मेरे आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ हैं।

१९ सितम्बर १९५९

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३०६-०९

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

भोजन तथा वाणी

लोग नहीं जानते कि भोजन में भी चेतना होती है, केवल विटामिन और पोषण ही नहीं, चेतना भी होती है। हम भोजन से भी कुछ चेतना आत्मसात् करते हैं। माताजी ने कहा है कि हम जो भोजन खाते हैं उसकी चेतना भी आत्मसात् करते हैं। इसमें से कुछ उन लोगों से आती है जो पकाते हैं और कुछ वातावरण से। भारत में हमारे यहाँ प्रसाद की प्रथा है। जब हम सचमुच भागवत सत्ता का आवाहन करते हैं और भगवान् से कहते हैं : "आप इसे स्वीकार कीजिये" तो वास्तव में उसकी चेतना का भाग शुद्ध हो जाता है और उसके बाद खाने से हमारे अन्दर नयी चेतना आती है।

मैं एक और छोटी-सी अनुभूति तुम लोगों को सुनाना चाहूँगा। मैंने एक बार माताजी से कहा कि काम के समय मैं भगवान् को भली-भाँति याद रख सकता हूँ पर खाते समय उन्हें भूल जाता हूँ। उन्होंने उत्तर दिया, "शायद तुम बहुत-से लोगों के साथ खाते हो।" मैंने कहा, "जी हाँ, बात ऐसी ही है।" (यह बात मेरे आश्रम में भरती होने से पहले की है) उसके बाद, मैंने पूरे एक महीने तक अकेले बैठ कर खाना खाया और वह भी मौन रह कर। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ, इसका मेरे स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा असर हुआ। तो अगर तुम सचमुच प्रगति करने के बारे में गम्भीर हो तो ज़्यादा अच्छा होगा कि खाते समय कुछ नियन्त्रण रखो। एक दिन आ सकता है जब इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, लेकिन शुरू की स्थिति में तो पड़ता ही है। तुमको इस तरह खाना चाहिये मानों ज्योति तुम्हारे शरीर में प्रवेश कर रही है और तुम्हारा पूरा शरीर ज्योतिर्मय बनता जा रहा है और भोजन तुम्हें भगवान् के निकट ला रहा है और तुम्हारे अन्दर भागवत चेतना को जगा रहा है। यदि तुम केन्द्रित होकर यह कर सको तो तुम कुछ ही समय में परिणाम देख सकोगे। तुम अपने जीवन, अपने शरीर, अपने मन में फ़र्क देखोगे। हो सकता है कि यह तुम्हें आज न दिखलायी दे, इसमें कुछ समय लगे, लेकिन इसमें तुम्हें गम्भीर, सच्चा और निष्कपट होना चाहिये।

एक और पक्ष है वाणी। बोलते समय तुम्हें एकाग्र रहना चाहिये ताकि केवल वही बोला जाये जो भगवान् तुम्हारे द्वारा तुम्हारे मुख से, तुम्हारी वाणी में बोलना चाहें। यदि तुम सचमुच इसका अभ्यास करो तो तुमको यह सोचना न पड़ेगा कि क्या बोलें, क्योंकि तब स्वयं भगवान् तुम्हारे द्वारा बोल रहे होंगे। कहा जाता है कि ऐसी सिद्धियाँ होती हैं कि अगर हम कण्ठ के केन्द्र में ध्यान धरें तो हम भूख पर विजय पा सकते हैं। इस तरह बहुत-से ध्यान होते हैं जिनके अलग-अलग परिणाम होते हैं। ज़रूरी यह है कि अपने मुख द्वारा सीधे नाभि-केन्द्र तक ज्योति लेकर आओ और तब तक न बोलो जब तक तुम अपने-आपको ज्योति से न भर लो। बस अपने-आपको अधिकाधिक भरते जाओ, ज्योति से अधिकाधिक भरते जाओ और जब तुम बोलो तो तुम्हारा मन अचञ्चल और स्थिर हो। तुम जितना ही कम बोलोगे, तुम्हारा मन उतना ही अधिक अचञ्चल होगा। तो अपने अन्दर व्यर्थ की बातचीत न करने की आदत डालो। यह एक अभ्यास है और इसे बहुत धीरज के साथ करना पड़ता है।

एक बार माताजी ने मुझसे कहा था—और तब वे चेतना के बहुत ऊँचे स्तर पर थीं—कि जब वे श्रीअरविन्द के पास जाया करती थीं तो वे अपने-आपसे कहा करती थीं कि जो चीज़ ज़रूरी न हो वे उसे श्रीअरविन्द से न कहेंगी। उन्होंने बतलाया कि वे दस में से आठ बार बिना बोले ही लौट आया करती थीं। यद्यपि वे बहुत ऊँचे स्तर पर थीं फिर भी वे अपने-आप पर इतना संयम रखती थीं। हम सबको अपने ऊपर संयम रखना चाहिये। वाणी-संयम मन्त्र-जाप में बहुत सहायक होता है और इससे विपरीत बात भी उतनी ही ठीक है। दैनिक जीवन में तुम जितना अधिक मन्त्र-जाप करोगे उच्चतर चेतना के साथ तुम्हारा उतना ही अधिक सम्पर्क होगा।

(क्रमशः) —नवजातजी

प्राण ही उत्साह प्रदान करता है, लेकिन अपने स्वभाव से ही प्राण अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीज़ें चाहता है। जब तक कि उसका परिवर्तन न हो जाये और वह भगवान् का विनीत सेवक न बन जाये, तब तक चीज़ें हमेशा डाँवाडोल होती रहती हैं।

—श्रीमाँ

सुमिरन कर ले मेरे मना

भगवान् के बारे में कुछ कहानियाँ अद्‌भुत होती हैं। जीवन-साहित्य पत्रिका में पढ़ी अमरनाथ शुक्लजी की इसी तरह की एक कहानी प्रस्तुत है—

लंका-विजय के पश्चात् जब श्रीराम अयोध्या लौटे और राजतिलक हो गया तो एक दिन राजदरबार में महर्षि वसिष्ठ, विश्वामित्र, नारदजी तथा अन्य कई ऋषि धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श के लिए पधारे।

धार्मिक विषयों पर गूढ़ चर्चाएँ चल रही थीं कि अचानक देवर्षि नारद एक अजीब-सा प्रश्न पूछ बैठे—"भगवन्! नामी बड़ा है या नाम?"

ऐसा अटपटा प्रश्न सुन कर वहाँ उपस्थित सभी अचरज से एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे, फिर महर्षि वसिष्ठ ने कहा—"देवर्षि! अपनी बात को अधिक स्पष्ट करो कृपया, नामी और नाम से आख़िर तुम्हारा क्या तात्पर्य है?"

नारदजी ने अपनी वीणा पर झंकार देते हुए कहा—"हे ऋषिमुनियो! आशय स्पष्ट है, नाम से तात्पर्य है कि भगवान् के नाम का जप-भजन करने वाला श्रेष्ठ है या उस नामवाले नामी स्वयं भगवान् श्रेष्ठ हैं?"

ऋषियों ने हँस कर कहा—"देवर्षि! कभी तो गम्भीर प्रश्न किया करो। इस गूढ़ चर्चा में कैसा बचकाना प्रश्न पूछ बैठे! निस्सन्देह, भगवान् ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि उन्हीं के नाम का तो जप किया जाता है।"

लेकिन नारदजी को तो अपना प्रश्न बचकाना बिलकुल न लगा। उनके विचार से भक्तों को भगवान् के स्मरण, उनके नाम-जप से ही शक्ति और भक्ति प्राप्त होती हैं। उनका अभीष्ट सिद्ध होता है। प्रभु के सुमरिन के बिना प्रभु कहाँ मिलते हैं, अतः, नामी से बड़ा उनका नाम हुआ। जब देवर्षि ने अपना मत अन्य ऋषियों के सामने प्रस्तुत किया तो सबका एक ही उत्तर था—"नारद! नामी के बिना नाम का क्या महत्त्व, केवल स्मरण का क्या प्रयोजन?"

लेकिन उन्होंने अन्य ऋषियों की बात आसानी से स्वीकार नहीं की। आख़िर देवर्षि जो ठहरे। "समय आने पर मैं अपनी बात प्रमाणित करूँगा" मन ही मन यह सोचते हुए वे सभा में प्रत्यक्ष रूप से चुपचाप बैठे रहे।

सचमुच किसी भी ऋषि-मुनि ने देवर्षि की बात को गम्भीरता से न

लिया था, कुछ देर बाद राजसभा विसर्जित हो गयी। श्रीराम की वन्दना कर सभी अपने-अपने निवास की ओर चल पड़े। श्रीरामचन्द्र इन धार्मिक सभाओं में कभी-कदास ही कुछ बोला करते थे, आज भी सभा के वार्तालाप में सारे समय उनके अधरों पर मन्द स्मित खेला किया। देवर्षि ने अपने आराध्य की चरण-रज ले दृष्टि ऊपर उठायी, भगवान् मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे, देवर्षि को उस मुस्कुराहट में मानों वही प्रश्न तैरता दीखा—"वत्स! नाम बड़ा या नामी?" आकाश-पाताल की ख़बर रखने वाले प्रभु भी मुझी से पूछ रहे हैं, नारद ने मन ही मन आश्चर्य प्रकट किया।

दरबार से निकलते ही उनकी दृष्टि द्वार पर राम-नाम के जाप में लीन हनुमानजी पर पड़ी। उन्हें तो दरबार में होने वाली चर्चा के विषय में कोई जानकारी न थी, बस नारदजी के मन में एक युक्ति की रूप-रेखा बन गयी।

दूसरे दिन दरबार लगने से पहले देवर्षि ने पवनपुत्र को एकान्त में बुला कर कहा—"वत्स हनुमान, तुम रोज़ श्रीराम के दरबार में उपस्थित सब ऋषियों के साथ विश्वामित्र को भी प्रणाम करते हो, लेकिन उन्हें प्रणाम करने की कोई आवश्यकता नहीं, वे कोई ब्राह्मण थोड़े ही हैं, वे क्षत्रिय जाति के हैं, ब्राह्मण दीखने के लिए ऋषियों का बाना धारण कर लेते हैं। ब्राह्मण-ऋषियों के समान वे सम्मान-योग्य कदापि नहीं हैं। क्षत्रियों की अभ्यर्थना ब्राह्मणों जैसी नहीं होती। आज से तुम उनके सामने मत झुकना।"

हनुमान ने सोचा, नारदजी देवर्षि हैं, ठीक ही कह रहे होंगे, उनकी बात मुझे अवश्य माननी चाहिये। हाथ जोड़ कर बोले—"देवर्षि! जैसी आपकी आज्ञा।"

हनुमान को समझा कर नारद रामदरबार में चले आये। भगवान् श्रीराम सिंहासन पर विराजमान थे, सभी मन्त्रिवर, ऋषि-मुनि अपने-अपने आसनों पर शोभायमान थे। राजदरबार की प्रक्रिया आरम्भ होने से पहले रोज़ की भाँति आञ्जनेय दरबार में पधारे, श्रीराम के चरणों में प्रणत हुए, फिर दरबार में उपस्थित ऋषियों के चरण-स्पर्श कर उन्हें प्रणाम किया। सबके बीच में बैठे विश्वामित्र की न तो उन्होंने अभ्यर्थना की न ही उनके प्रति किसी प्रकार का आदर दिखलाया और बाहर निकल आये। हनुमान के इस व्यवहार से सभी हतप्रभ हो उठे। यह तो विश्वामित्र का प्रत्यक्ष अपमान कर बैठे पवनपुत्र!! विश्वामित्र तो धधकते अग्निकुण्ड की भाँति प्रचण्ड हो

गरज उठे—"राम, तुमने अपने इस मुँहलगे ओछे सेवक की धृष्टता देखी? भरे दरबार में मेरी उपेक्षा कर गया, इस उच्छृंखलता का इसे अभी कठोर दण्ड मिलना चाहिये।"

श्रीराम ने भी इसका अनुभव किया, विनयपूर्वक बोले—"गुरुदेव, शान्त हो जाइये। हनुमान के इस अजीब व्यवहार की थाह मैं भी नहीं पा सका, मैं अवश्य उससे पूछूँगा।"

विश्वामित्र तो और भी भड़क उठे—"राम, जो तुमने स्वयं प्रत्यक्ष देखा उसमें पूछने की क्या आवश्यकता है। मैं तुम्हारा गुरु हूँ, यह गुरु-आज्ञा है कि हनुमान को कठोरतम दण्ड दिया जाये।"

देवर्षि ने भी विश्वामित्र का पक्ष लिया, कहा—"प्रभो! विश्वामित्र की बात एकदम उचित है, पवनपुत्र को इस दुर्व्यवहार का दण्ड मिलना ही चाहिये। अभी जल्दी में कोई कार्यवाही करना उचित नहीं है। शान्तभाव से विचार कर कल दण्ड दीजियेगा क्योंकि उत्तेजित अवस्था में न्याय-अन्याय में भेद नहीं रहता।"

पता नहीं विश्वामित्र देवर्षि के इस सुझाव को मान कैसे गये और सभा विसर्जित हो गयी।

इधर राजदरबार में हुए इस काण्ड के बारे में जब हनुमान ने सुना तो उन्हें बहुत दुःख हुआ कि नारदजी ने दण्ड देने के बारे में प्रमुख भूमिका निभायी। रात को वे देवर्षि के आश्रम गये और बड़े ही दुःखी स्वर में हाथ जोड़ कर बोले—"प्रभो! यह कैसी लीला रचा रहे हैं। मुझसे जो धृष्टता हुई वह तो आपकी ही आज्ञा से हुई। मेरा वध करा कर आपको क्या मिलेगा?"

नारदजी ने हँस कर कहा—"पवनतनय! विचलित मत होओ, किसी भी प्रकार का दण्ड तुम्हें भुगतना न होगा। तुम्हारी प्रतिष्ठा ऐसी ही बनी रहेगी। बस कल प्रातः तुम राजदरबार में मत आना। सरयू में स्नान कर वहाँ तट पर खड़े हो श्रीराम नाम का महामन्त्र जपते रहना। चाहे कोई कुछ भी कहे तुम्हारा ध्यान भंग न होने पाये।"

हनुमान के पास अब और चारा भी न था। अगले दिन प्रातः सरयू में स्नान किया, फिर थोड़े जल में खड़े होकर राममन्त्र जपने लगे।

दरबार लगने पर सबने देखा, हनुमान ग़ायब!! श्रीराम को सबसे अधिक आश्चर्य हुआ, पूछा—"कैसी अनहोनी बात है, हनुमान आज रोज़

की तरह दरबार में उपस्थित क्यों नहीं हुए?"

विश्वामित्र तत्काल बोल उठे—"आप आज उसे दण्ड देने वाले हैं इसीलिए भयभीत किसी कोने में छिपा होगा।"

देवर्षि ने गम्भीरता से कहा—"यहाँ आते समय मैंने हनुमान को सरयू के तट पर स्नान करते देखा था।"

प्रभु को थोड़ा क्रोध हो आया, बोले—"हनुमान मेरा चाहे कितना भी प्रिय क्यों न हो, अपनी उद्दण्डता के लिए उसे अवश्य दण्ड मिलेगा। हम स्वयं सरयू-तट पर जाकर उसे दण्ड देंगे।"

भगवान् राम विश्वामित्र, नारद, अन्य ऋषिमुनियों तथा मन्त्रियों सहित सरयू के किनारे पहुँचे। देखा सचमुच हनुमान वहीं राम-नाम का जाप कर रहे हैं। पहली बार प्रभु के आगमन पर भी उन्होंने कोई ध्यान न दिया, हनुमान की इस उद्दण्डता ने श्रीराम के क्रोध को बढ़ा दिया। विश्वामित्र आग बबूला हो उठे—"प्रभो! कीजिये शरसन्धान। इस कुटिल को अपनी करनी का फल मिलना ही चाहिये।" ऋषि की आज्ञा न टाल सके भगवान्। वहाँ उपस्थित सभी के चेहरे फक् पड़ गये। आज श्रीराम हनुमान पर बाण चलायेंगे!!!

लेकिन यह कैसी अनहोनी हो रही है? बाण हनुमान के शरीर से कुछ ही दूरी पर रुक गया, एक के बाद एक कई शर चले, लेकिन एक भी उनके शरीर का स्पर्श न कर पाया। राम-नाम उनके शरीर का कवच जो बना हुआ था! आज प्रभु के दण्ड का प्रयास व्यर्थ हो रहा था!! न श्रीराम के आश्चर्य का पारावार था और न विश्वामित्र के क्रोध का। आग बन दहक उठे विश्वामित्र—"प्रभु! उठाइये ब्रह्मास्त्र, देखें यह धृष्ट बच कर कहाँ जायेगा।"

उसी क्षण नारद प्रभु के चरणों में प्रणत हो गये। फिर अञ्जलि बाँधे विश्वामित्र से बोले—"महर्षि, हनुमान के अपराध को क्षमा कीजिये, ब्रह्मास्त्र चल गया तो प्रलय मच जायेगा। यह भक्त हनुमान की नहीं मेरी करनी है, मैंने ही इन्हें उकसाया था। उस दिन सभा में जब मैंने "नामी बड़ा या नाम" का प्रश्न आप लोगों के सामने रखा तो आप सबका एकमत था कि नाम से बड़ा नामी है, जब कि मेरे अनुसार प्रभु के सुमिरन, उनके नाम-जप में बहुत बड़ी शक्ति है और उसका परिणाम आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। स्वयं प्रभु के चलाये बाण प्रभु के सेवक का बाल तक बाँका नहीं कर पा रहे,

इन भक्त के हृदय में श्रीराम का नाम दिन-रात बसा रहता है और प्रभु भी अपने नाम की शक्ति के सम्मुख विनत हो गये!

कुछ रुक कर देवर्षि फिर बोल उठे—"ऋषिवर, श्रीराम-रावण का यह भीषण संग्राम आख़िर इतने दिन क्यों चला आप सबने कभी इस बात पर विचार किया। भगवान् चाहते तो क्षण-भर में पराक्रमी रावण का खेल समाप्त कर देते, लेकिन वे बाध्य थे। भला क्यों? स्वयं प्रभु ने इसका उत्तर दिया है—

इसके हृदय बसे जानकी
जानकी हृदय मम बास है
मम हृदय बसत त्रैलोक्य सगरो
एहि मरे सत्यानास है।

अर्थात्, रावण के हृदय में जानकी बसती है, जानकी के हृदय में मेरा वास है, मेरे हृदय में समस्त त्रिलोक बसा हुआ है, अगर मैं इसकी हत्या कर दूँ तो सारी सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी।

इसी कारण मुनिश्रेष्ठो, श्रीराम ठीक उस मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे थे जब रावण के हृदय से जानकी का सुमिरन, दूसरे शब्दों में कहें तो स्वयं प्रभु श्रीराम का सुमिरन हट जाये। जिस क्षण रावण युद्ध की भीषणता में क्षण-भर के लिए जानकी को भूल गया ठीक उसी क्षण उन्होंने शर-सन्धान कर उसकी इहलीला समाप्त कर दी।"

सबने देखा, राजीवलोचन दशरथतनय सरयू-तट पर खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे, उनके संग-संग सन्तुष्ट और प्रसन्न थे ऋषि-मुनि और यह सोच-सोच कर आनन्द-लोक में डूबे हुए थे धरावासी कि प्रभु ने अपने नाम में, स्मरण में इतनी शक्ति भर दी है कि वह प्रभु से भी अधिक उज्ज्वल हो उठा।

जब-जब अवतार धरती पर सशरीर नहीं होते तब-तब उनका स्मरण, उनका नाम-जाप ही हमें भवसागर से पार लगाता है।

'पुरोधा', नवम्बर २००० से —वन्दना

प्रार्थना

१७ नवम्बर १९१४

ओह, अलौकिक जननी, कितना असीम होगा तेरा धैर्य! हर बार जब तेरी सचेतन इच्छा भूलों को ठीक करने, अपने ही ज्ञान के भ्रम में भटके हुए व्यक्ति की अनिश्चित प्रगति को तेज़ करने, निश्चित पथ को खोजने और व्यक्ति को इतनी सामर्थ्य देने के लिए कि वह बिना लड़खड़ाये उस पर सीधा चल सके, अपने-आपको अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है तो प्रायः हमेशा ही वह तुझे एक नीरस और अदूरदर्शी सलाहकार मान कर धकेल देता है। वह सिद्धान्त में तुझसे प्रेम करने को तैयार है—किसी अस्पष्ट और असंलग्न प्रेम के साथ—लेकिन उसका घमण्डी मन तेरे ऊपर विश्वास करने से इन्कार करता है और तेरे पथ-प्रदर्शन में आगे बढ़ने की जगह अपने-आप इधर-उधर भटकना ज़्यादा पसन्द करता है।

और तू अपने सदा अनथक हितचिन्ताभरे स्मित के साथ उत्तर देती है : "यह बौद्धिक क्षमता जो मनुष्य को गर्वीला बनाती और भूल-भ्रान्ति की ओर ले जाती है, वही है जो एक बार यदि प्रबुद्ध और शुद्ध हो जाये तो उसे वैश्व प्रकृति से आगे, उससे ऊपर, हमारे प्रभु के साथ, जो सारी अभिव्यक्ति के परे है, सचेतन सायुज्य की ओर ले जाती है। यह विभाजक बुद्धि जो उसे मुझसे अलग खड़ा करती है, वही उसे इस योग्य भी बनाती है कि जिन शिखरों पर उसे उठना है उन पर तेज़ी से चढ़ जाये और सकल विश्व उसकी प्रगति को जकड़ न सके और न ही उसमें देर लगा सके क्योंकि विश्व की विशालता और जटिलता इतनी तेज़ चढ़ाई नहीं होने देती।"

हे दिव्य जननी, तेरी वाणी हमेशा आश्वासन और आशीर्वाद देती है, शान्ति और प्रकाश देती है और तेरा उदार हाथ अनन्त ज्ञान को छिपाने वाले परदे की एक तह को उठा देता है।

तेरे पूर्ण ध्यान का प्रताप कितना शान्त, उदात्त और पावनकारी है!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १५६

Date of Publication: 1st February 2021
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

दिव्य उपस्थिति

(श्रीमाँ के द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

वानस्पतिक नामः Rhoeo spathacea